*

गुरू-शिष्य संवाद

(श्री जगद्बंधु मैत्र)

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

॥ श्री श्रीसद्‌गुरुवे नमः ॥

गुरु शिष्य संवाद

शास्त्र भ्रमरहित हैं।

शिष्य - (गुरुदेव को विधिपूर्वक प्रणाम करके) - गुरुदेव ! मेरे मन में धर्म के सम्बन्ध में कुछ संदेह हो रहे हैं। आप कृपाकर उनकी विवेचना कर मेरे संशयों का निवारण कर दीजिये।

गुरु - वत्स ! तुम्हारे मन में क्या संदेह उत्पन्न हो रहे हैं ? तुम अपने संदेहों को निःसंकोच प्रकट करो।

शिष्य - क्या हमारे शास्त्र सब भ्रमरहित हैं ?

गुरु - शास्त्र कहने से तुम्हारा क्या तात्पर्य है ?

शिष्य - शास्त्र से मेरा अभिप्राय हिन्दुओं के धर्मशास्त्रों से है।

गुरु - अन्यान्य जातियों के शास्त्रों को तुम शास्त्र क्यों नहीं मानते? ईसाईयों की बाईबल, मुसलमानों का कुरान क्या शास्त्र नहीं हैं ?

शिष्य - हाँ, वे सब भी शास्त्र हैं, तो भी उनको लेकर विचार करने का हमें कोई प्रयोजन नहीं। वे शास्त्र जिन-जिन जातियों के हैं, वे लोग उन पर विचार करें। हम हिन्दू हैं, अतः हिन्दू धर्मशास्त्रों से ही हमारा प्रयोजन है। क्योंकि धर्म के सम्बन्ध में हमारा जो कुछ है, वह हिन्दू शास्त्रों पर ही आधारित है, अन्यान्य जातियों के शास्त्रों पर नहीं।

गुरु - बहुत ठीक कहा। हम बंगाली हैं, बंगाल में उत्पन्न उपयोगी खाद्यपदार्थों को हम खाते हैं, उन्हीं से हमारे शरीर भलीभाँति पुष्ट होते हैं। हमारे देश के खाद्य हमारे शरीरों के लिए जैसे उपयुक्त हैं, दूसरे देशों के अन्न वैसे पुष्टिकारक नहीं। अपितु अनेक स्थलों में अनिष्टकारक होते हैं। इसी तरह हिन्दू धर्मशास्त्र हमारे लिये जैसे उपयोगी हैं, अन्य जातियों के शास्त्र वैसे नहीं। अतः अन्य जातियों के शास्त्रों को लेकर विचार करने का हमें कोई प्रयोजन नहीं। अच्छा, हिन्दू शास्त्र क्या हैं? हिन्दूशास्त्र कहने से तुम क्या समझते हो ?

शिष्य - शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः और ज्योतिष, ये छः अंग और आयुर्वेद, धनुर्वेद गान्धर्ववेद और स्थापत्यवेद, इन चार उपवेदों के साथ ऋक्, यजुः साम और अथर्व चार वेद; मनुसंहिता, पाराशरसंहिता आदि स्मृति ग्रन्थ; सनत्कुमार संहिता, नारदपञ्चरात्र आदि उपासना ग्रन्थ; नारदसूत्र, शाडिल्य सूत्र आदि भक्ति ग्रन्थ; अष्टावक्रसंहिता आदि ब्रह्मज्ञान विधायक ग्रन्थ; श्रीमद्‌भागवत, पद्मपुराण, साम्बपुराण, कालिकापुराण आदि पुराण और उपपुराण; रामायण, महाभारत आदि इतिहास ग्रन्थ; महादेव द्वारा कथित आगमशास्त्र और भगवती द्वारा कथित निगम शास्त्र-हिन्दू शास्त्र कहने से मैं इन्हीं को समझता हूँ।

गुरु - ये सब तो ठीक ही शास्त्रग्रन्थ हैं। इनके अलावा ऋषियों द्वारा विरचित सांख्य, वेदान्त आदि दर्शनशास्त्र भी शास्त्रों में गिने जाते हैं।

शिष्य - क्या ये सब शास्त्र भ्रमरहित हैं, सत्य हैं ?

गुरु - ये सभी शास्त्र सत्य हैं, भ्रमरहित हैं। एक के साथ एक का योग करने से योगफल दो होगा, यह कथन जैसे भ्रमरहित और सत्य है, वैसे ही सब शास्त्र भ्रमरहित हैं। शास्त्रों की सत्यता और भ्रमशून्यता के संबंध में तुम्हारे मन में सन्देह उत्पन्न होने का कारण क्या है ?

शिष्य - आजकल धर्म के संबंध में, शास्त्रों के संबंध में, ईश्वर के विषय में चारों ओर अनेक प्रकार के तर्कों, वाद-विवादों का जोर देखकर मेरे मन में संदेह उत्पन्न हुआ है। इसीलिये आपके सामने अपने मन की बात कह दी है। अपने संदेह को मन ही मन में छिपाकर रखना अच्छा नहीं होता- ऐसा मेरा विश्वास है।

गुरु - वर्तमान काल में हमारे देश में अविश्वास, संदेह और नास्तिकता अत्यन्त बढ़ रही है। देश में विद्वान् और पण्डित कह कर जिनकी ख्याति है और प्रामाण्यता है, धर्म के प्रति, शास्त्रों के विषय में उन्हीं लोगों के अविश्वासों और अनास्था को देखकर अनेकों के मन में संदेह उत्पन्न होने लगे हैं। तुम्हारे मन में संदेहों का होना कुछ विचित्र बात नहीं। विशेषकर आजकल कलियुग जो है। कलि चारों दिशाओं में अपना पूर्ण आधिपत्य विस्तार कर रहा है। धर्म को संकीर्ण, निर्बल एवं

निस्तेज करना और अधर्म को प्रबल और विस्तीर्ण करना ही कलियुग का काम है। सत्य, सदाचार, संयम, दया, श्रद्धा, विश्वास, आस्तिकता आदि धार्मिक भाव प्रतिदिन निस्तेज और परिम्लान हो रहे हैं। उनके स्थान पर झूठ, जुआ, चोरी, भ्रष्टाचार, दुराचार, स्वार्थपरता, खान-पान में स्वेच्छाचार, अविश्वास, नास्तिकता आदि अपने क्षेत्रों को बढ़ा रहे हैं। वर्तमान काल की शिक्षाप्रणाली भी कलि के इन सब कामों में खूब हाथ बँटा रही है। एक तो करेला उस पर नीम चढ़ा! देश में ठीक ऐसी ही अवस्था है।

पाश्चात्य शिक्षा के अवश्यम्भावी और निश्चित फल हैं - संशयग्रस्तता, नास्तिकता, अविश्वास और अहंलीनता। जो लोग पाश्चात्य विद्याओं में पारंगत हैं, वे अधिकांश ही धर्म में विश्वास और आस्था नहीं रखते। उनके लिये शास्त्र कल्पनाप्रसूत कहानी हैं। जिस वेद को समझने में 'सूरयः मुह्यन्ति',-पण्डितों के दिमाग चक्कर खाने लगते हैं- वे किसानों के गान कहे जाते हैं। उनके और उनके पश्चिमी गुरुओं की बुद्धि के वश की जो चीज है वही सत्य है। जो उनके ज्ञान से बाहर है, जिसको उनकी समझ पकड़ नहीं पाती, जिसे समझने में वे लोग समर्थ नहीं, जो उनकी धारणा के प्रतिकूल है, वे सब सारहीन, काल्पनिक और भ्रमपूर्ण हैं ! बेटा ! जिसको तुम समझ नहीं पाते हो, जिसको तुम ग्रहण नहीं कर सकते हो, वह कुछ महत्त्व की नहीं, यह बात तुम किस बल-बूते पर कहते हो ? क्या तुम सब कुछ जानते हो ? तुम्हारे छोटे-से मस्तिष्क में क्या संसार के समस्त ज्ञान-विज्ञान ने अपना निवास बना रखा है ? पचास वर्ष पहले जापानी लोग वर्तमान युग की वैज्ञानिक युद्धविद्या को जानते नहीं थे। जापानियों को यह युद्धविद्या अज्ञात थी, इस कारण से क्या संसार में वैज्ञानिक युद्धविद्या विद्यमान नहीं थी। तुम समझ नहीं सकते, तुम्हारा छोटा सा मस्तिष्क और मोटी बुद्धि किसी विचार को ग्रहण नहीं कर पाती, इस कारण से शास्त्रों के वचन सारहीन, काल्पनिक और भ्रमपूर्ण नहीं है।

मनुष्य की जितने प्रकार की भी दुर्गति अथवा दुरवस्थायें होती हैं, उनमें संशय और नास्तिकता अधमाधम है। अन्य प्रकार की दुर्गति तो अल्पकाल व्यापी और इसी जन्म तक सीमित रहती है। परन्तु संशय,

अविश्वास और नास्तिकता का दुष्प्रभाव इस जन्म में क्या, आगामी जन्मों में भी चलता है। अतः धर्म के विषय में तनिक भी संदेह मन में उदित होने पर सरलतापूर्वक गुरु के आगे निवेदन कर उसका समाधान करा लेना चाहिये, किसी विषय में विवेचना करते समय गुरु के साथ कुतर्क करना उचित नहीं। केवल गुरु के साथ ही नहीं कुतर्क सभी स्थानों में सर्वदा त्याज्य है। कुतर्क करने पर किसी विषय की मीमांसा (विवेचना) नहीं हो पाती। कुतर्क जैसा मीमांसा का दूसरा भयानक शत्रु नहीं। मन में कोई संदेह उठने पर, संदेह के समाधान के लिये जिज्ञासु होकर सरलभाव से गुरु के पास जाकर संदेह की बात कहो। संदेह निवारण के लिए गुरु जो युक्ति वा तर्क प्रतिपादित करें, उन पर कुतर्क न कर के, जब तक संदेह दूर न हो, तब तक अपने संशयों की विवेचना करवाओ। मीमांसा हो जाने पर, संदेह निवारण हो जाने पर, आगे अनुचित तर्क मत करो। अनुचित तर्क के द्वारा किसी विषय की मीमांसा नहीं होती। तर्क करने का अभिप्राय होता है अपने मत को स्थिर रखना। तर्क करने वाला सदा ही अपने मत वा अपनी बात को रखने का यत्न करता है। मीमांसा अथवा विवेचना की ओर उस का ध्यान नहीं होता। इसी कारण से तर्क द्वारा किसी विषय की मीमांसा नहीं हो पाती। अब तुम अपने संदेहों की बात कहो।

शिष्य - शास्त्रों के वचन भ्रम रहित हैं, यह क्यों कर ?

गुरु - जो सत्य हैं, जिन में भ्रम नहीं, प्रमाद नहीं, मनगढ़न्त बात नहीं, ऐसे ही तथ्य शास्त्रों में निविष्ट किये गये हैं, इस लिये समस्त शास्त्र सत्य हैं।

शिष्य - शास्त्र सत्य हैं इस का अर्थ क्या ?

गुरु - शास्त्रों की सत्यता का अर्थ है - उनके वचनों में भूल चूक नहीं, अत्युक्ति नहीं, अतिरंजन नहीं, उनके सभी कथन सत्य हैं !

शिष्य - कोई उदारहण देकर समझाइये ।

गुरु - क्षत्रिय सम्मुख होकर युद्ध करने पर प्राण दे तो स्वर्ग को जाता है- यह शास्त्र का वचन है। सम्मुख युद्ध में जिसकी मृत्यु हो जाती है वह वास्तव में स्वर्ग गमन करता है। राजा दुर्योधन बड़ा दुराचारी था।

पाण्डवों के साथ उसने जीवन भर कितने अन्याय किये। परन्तु सम्मुख युद्ध में हत होने पर वह भी स्वर्ग को गया था। दुर्योधन के स्वर्ग गमन से ही यह प्रमाणित होता है कि सम्मुख समर में हत होने पर वीर योद्धा स्वर्ग को जाता है, शास्त्र का यह वचन पूर्णरूप से सत्य है। इसी प्रकार प्रत्येक शास्त्र वचन सत्य है, भ्रम रहित है।

शिष्य - दुर्योधन की स्वर्गप्राप्ति से मेरे मन में दो संदेह उत्पन्न हो गये हैं। पहिला, दुर्योधन जो स्वर्ग गया था, महाभारतकार ने यह कैसे जाना ? दूसरा, सम्मुख समर में हत होने से ही क्या उनके जीवन भर में किये हुए पापों के पुँज नष्ट हो गये थे ?

गुरु - तुम्हारे पहिले प्रश्न के उत्तर में यह कहना है कि महाभारतकार भगवान् वेदव्यास दिव्यज्ञान द्वारा जान कर ही दुर्योधन के स्वर्गगमन की बात लिख गये हैं। तपस्या द्वारा ऐसी शक्तियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। जिनके द्वारा मनुष्य त्रिकालज्ञ हो सकता है। भूत में जो हो चुका है, वर्तमान में जो घटित हो रहा है और भविष्य में जो घटित होगा, तपस्वीजन अपने तपोबल से उन घटनाओं को अपने हाथ के नख, अथवा हथेली पर धरे आमलक (आँवला) की भाँति देख सकते हैं। काल और देश की दूरी उनके लिये पूर्णतया लुप्त हो जाती है। विभिन्न देशों या कालों में जो कुछ हो चुका है, हो रहा है अथवा होने को है, वह सब उन के लिये गुप्त अथवा अज्ञात नहीं रहता है। कलकत्ता नगर के राजपथ में कोई-कोई ऐसे विदेशी विद्वान समय-समय पर देखने में आते हैं, जो लोगों के अतीत को पूर्ण विवरण के साथ अनायास ही बता देते हैं। वे साधारण जन होते हैं। जब उन में ऐसी क्षमता देखी जाती है, तब जो लोग विधि पूर्वक तपस्या करके शक्ति प्राप्त कर लेते हैं, अन्तर्दृष्टि पा लेते हैं, ऐसे मनुष्यों में भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान को जान लेने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है - इस में संदेह क्या होगा ? हमारे शास्त्रों में जो भविष्यवाणियाँ पाई जाती हैं, शास्त्रकार अपने तपोबल के प्रभाव से ही उन्हें शास्त्रों में लिख गये हैं। यह सुन कर तुम अत्यन्त विस्मित होगे कि भविष्य पुराण में भगवान् वेदव्यास इस शक्ति के प्रभाव से ही विक्रमादित्य, चन्द्रगुप्त, शिवाजी आदि हिन्दू राजा, बाबर, हुमायूं, अकबर आदि मुसलमान सम्राट भारतवर्ष में उत्पन्न होकर राज करेंगे; मानसिंह,

बीरबल, तानसेन आदि अकबर के सभासद होंगे; शंकराचार्य, रामानुज, विष्णुस्वामी, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य प्रभृति महापुरुष उत्तरकाल में इस देश में प्रादुर्भूत होकर धर्म का प्रचार करेंगें, यह सब कुछ लिख गये हैं। यहां तक कि भारत में अंग्रेजों के शासन की बात भी लिखी है।

अब तुम्हारे दूसरे प्रश्न की बात। सम्मुख युद्ध में प्राण त्यागने से दुर्योधन स्वर्ग गया था, इस से उस के जीवन भर में किये हुए पाप नष्ट नहीं हुए थे। पाप पुण्यों का हिसाब जमा खर्च के तरीके से नहीं होता। मनुष्य अपने किये हुए पापों और पुण्यों दोनों का फल भोगता है। जिनके पुण्य अधिक होते हैं, पाप कम संख्या में अल्प होते हैं, उन्हें पाप का भोग पहिले और बाद में पुण्य का भोग मिलता है। जिन के पुण्य अल्प और पाप अधिक होते हैं, उन्हें पुण्य का भोग-भोग चुकने पर पाप का भोग मिलता है। दुर्योधन के पुण्य अल्प और पाप अधिक थे, इसलिये उसे पुण्य का भोग पहिले मिला था। पुण्य भोगने के बाद उसे पापों का भोग भोगना पड़ा था। जिन कर्मों का परिणाम अल्प होता है, उनका फल भोग पहिले, जिनका परिणाम अधिक होता है उनका भोग पीछे मिलता है। महाभारत में स्वर्गारोहण पर्व में युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन आदि द्वारा नरक-दर्शन का विवरण पढ़ने से यह भली प्रकार ज्ञात हो सकता है।

शास्त्रों में भूल नहीं, इस संबंध में तुम्हें और भी कुछ कहता हूं, ध्यान देकर सुनो। आजकल जो ग्रन्थ लिखे जाते हैं, वे किसी विषय पर विचार-विमर्श करके अथवा उस विषय को किसी दूसरे से सुन कर लिखे जाते हैं। अत: वे भ्रांति रहित नहीं हो सकते। कारण, मनुष्य मात्र ही अपूर्ण है, भ्रम-प्रमाद से युक्त है। अत: सभी मनुष्यों के विचार, उनकी युक्तियाँ, मीमांसा पद्धति भ्रान्त, अपूर्ण और सीमित होती हैं। जो ग्रन्थ भ्रमपूर्ण, अपूर्ण और सीमित ज्ञान से ही उत्पन्न हों, वे भला भ्रांति रहित कैसे होंगे ? अत: आज जिनको सत्य मानकर प्रमाणित किया जाता है, कुछ भी दिन बीत नहीं पाते और वे भ्रांत व अप्रमाणित कर छोड़ दिये जाते हैं। जो सत्य कह कर प्रचार में लाये गये थे, आज के समय में उन्हीं को भ्रमपूर्ण कहा जाता है। शास्त्रों के ग्रंथ इस प्रणाली से नहीं रचे गये। हमारे कोई-कोई शास्त्र तो सर्व शक्तिमान सर्वज्ञ भगवान् से ही उत्पन्न हुए हैं, जैसे वेद। कोई कोई शास्त्र तपोबल से प्राप्त दिव्यज्ञान युक्त

ऋषियों द्वारा समाधि से प्राप्त प्रत्यक्ष दिव्यज्ञान से उत्पन्न हुए हैं। उदाहरण के लिये दो शास्त्र ग्रन्थों का उल्लेख किया जाता है। एक रामायण, दूसरा श्रीमद्भागवत। आदि कवि बाल्मीकि ने देवर्षि नारद के मुख से रामायण की मूल कथा को जान कर नारदजी के उपदेश से समाधि लगाई। तब रामायण की समस्त घटनावली महर्षि बाल्मीकि की दिव्य-दृष्टि के आगे प्रत्यक्ष की भाँति ही प्रकट हो गयी। दिव्य-दृष्टि द्वारा समस्त रामायण की घटनाओं का प्रत्यक्ष दर्शन करने के बाद ही महर्षि ने ग्रंथ में उनका वर्णन किया है। अतः उसमें भूल-चूक का होना अत्यन्त असंभव है। श्रीमद्भागवत की उत्पत्ति भी इसी प्रकार से हुई थी। देवर्षि नारद के उपदेश से भगवान वेदव्यासजी ने समाधि लगाई, तब समस्त तत्त्व उनके दिव्य चक्षुओं के आगे प्रकट हुए। वे ही तत्त्व उन्होंने ग्रन्थ में लिपिबद्ध कर दिये। इस रीति से श्रीमद्भागवत की रचना हुई थी।

शिष्य - आप ऋषियों को सर्वज्ञ और दिव्यज्ञान युक्त कहते हैं। क्या भगवान को छोड़ कर दूसरा कोई सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो सकता है ?

गुरु - हाँ, हो सकता है। श्रुति का वचन है -

''स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति॥''

मुण्डक उपनिषद 3/2/9

जो ब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है।

जरा विचार करो, गंगा का एक बिन्दु जल जब सागर के जल के साथ मिल जाता है, तब वह गंगा का जल-बिन्दु सागर का जल ही हो जाता है। सागर जल के समस्त गुण-धर्म गंगा जल में संक्रमण कर गंगा जल को सागर जल में परिणत कर देते हैं। इसी प्रकार जब कोई साधक तपोबल से माया के बन्धनों से छूट कर, ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेता है, ब्रह्म को जान लेता है, तो वह भी ब्रह्म के निखिल गुणों को, समस्त धर्मों को पा लेता है। तब वह ब्रह्म में मिलकर ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। उसका ज्ञान, उसकी इच्छा ब्रह्म के ज्ञान एवं इच्छा से मिलकर एक हो जाती है। तब जगत की कोई भी घटना उससे अज्ञात अथवा अदृष्ट नहीं रहती है। वह जब भी जो कुछ जानना चाहता है तभी उसे जान लेता है।

लोहे का एक टुकडा आग में डाल कर रखने पर जब अग्नि जैसा ही हो जाता है, तब अग्नि में तपाने-जलाने के जो गुण हैं, वे सभी उस लौह-दण्ड में संक्रान्त हो जाते हैं। अग्नि तुल्य वह टुकड़ा तब समस्त पदार्थों को दग्ध कर सकता है। इसी प्रकार, साधक जब ब्रह्मीभूत हो जाता है तब ब्रह्म में जो सर्वज्ञता सर्वदर्शिता आदि गुण और धर्म हैं, वे साधक में भी संक्रमित हो जाते हैं। इस प्रकार वह ब्रह्म की भाँति सब कुछ जान सकता है, सब कुछ देख सकता है। स्थान और काल उसके ज्ञान में प्रतिबंधक नहीं होते। प्रत्यक्ष में हो रही घटनाओं की भाँति, भूत और भविष्य की घटनायें भी उसे पूर्णतया परिज्ञात होती रहती हैं। हम लोगों के चर्म-चक्षुओं द्वारा दृष्ट घटनाओं के ज्ञान में भूल-चूक भले ही हो जाये, परन्तु ब्रह्मज्ञानी साधक अपने दिव्यज्ञान से जिन घटनाओं को प्रत्यक्ष कर पाता है अथवा जिनका बोध कर पाता है, उनमें कोई भ्रम या प्रमाद नहीं हो सकता। ब्रह्म का ज्ञान पूर्णरूप से भ्रान्ति रहित है। अतः उस अभ्रान्त ज्ञान के साथ मिलकर जिसका ज्ञान एक ओर अद्वैत हो गया है, उसके ज्ञान में भूल-चूक का होना नितान्त असंभव है। इस प्रकार के ज्ञान से जो शास्त्र उद्भूत होते हैं, वे निश्चित रूप से सत्य, संपूर्ण और अभ्रान्त ही होंगे। ये सब बातें शायद तुम्हें विश्वास के योग्य नहीं जान पड़ेंगी, परन्तु वास्तव में ये विश्वास के अयोग्य नहीं। हम लोग जो कुछ समझ नहीं पाते अथवा अपने मन में जिसकी कल्पना नहीं कर सकते, वैसी अलौकिक घटनायें अथवा कार्य घटित नहीं हुए, अथवा घटित नहीं हो सकते, ऐसी बातें मत सोचो। इस जड़ जगत के अलावा ऐसे अनेक तत्त्व हैं जिनका परिचय पाने के लिये कठोर तपस्या की आवश्यकता होती है। पुस्तकों के पाठ से अथवा गम्भीर विचार-विमर्श द्वारा उन सब तत्त्वों का ज्ञान पाना अथवा इन्द्रियातीत विषयों का बोध प्राप्त करना सम्भव नहीं। हमारे पूजनीय ऋषियों ने अपनी साधना के बल से, तप के प्रभाव से ही, उन इन्द्रियातीत विषयों का ज्ञान प्राप्त किया था। इन्द्रियों से अगोचर वे सब तत्त्व उनके निकट प्रत्यक्ष रूप से प्रकट हुए थे। वे लोग तपस्या-लब्ध शक्ति द्वारा ही अतीत और भविष्य की घटनाओं को वर्तमान की तरह प्रत्यक्ष देख कर ही लिख गये हैं। उनके द्वारा आविष्कृत घटनायें अथवा तत्त्व हमारे ज्ञान में कैसे ही अलौकिक

अथवा असम्भव क्यों न लगें, वे सब वस्तुतः सत्य हैं। तपस्या के लिये असाध्य कुछ नहीं। आजकल के विद्वान और लेखक केवल मात्र चिन्तन, विमर्श और बुद्धि द्वारा ही सब तत्त्वों को अवगत करने का यत्न करते हैं। ये लोग पहिले तो जानते ही नहीं कि इन्द्रियातीत तत्त्वों को जानने का एक मात्र उपाय है-तपस्या और कहने पर भी विश्वास नहीं करते। पाश्चात्य देशों के विद्वान् तो तपस्या आदि जो सत्त्वगुण के कार्य हैं, उनकी कल्पना अथवा विश्वास करने में भी बिल्कुल असमर्थ हैं। अतः अध्यात्म जगत् के किसी तत्त्व को समझने में असमर्थ होकर, ऋषिगण अपने तपोबल से जिन इन्द्रियातीत तत्त्वों को प्रकाशित कर गये हैं, वे लोग उन अमूल्य सत्य तत्त्वों को काल्पनिक, सारहीन एवं भ्रांतिपूर्ण कह कर उड़ा देते हैं। जो कोई विशेष कृपा-दृष्टि करते हैं, वे कहते हैं, कि ये सब रूपकमात्र हैं। परन्तु वे कल्पना नहीं, भ्रम नहीं, रूपक भी नहीं; वे हैं - वास्तविक सत्य।

एक पुस्तक में मैंने पढ़ा था, ग्रीष्म प्रधान देश का कोई निवासी किसी ठंडे देश में भ्रमण करने गया। वहाँ उसने बर्फ देखी और वहाँ से लौटकर अपने देश के राजा के आगे उसने उसका बखान किया। राजा ने बर्फ कभी देखी नहीं थी। अतः उसने उसके कथन में विश्वास नहीं किया। बात यहाँ तक बढ़ी कि राजा ने उस पुरुष को मिथ्यावादी मान कर प्राणदण्ड दे दिया। राजा ने कभी बर्फ देखी नहीं थी और बर्फ नामक पदार्थ के अस्तित्व का भी उसे ज्ञान नहीं था, इससे क्या यह मान लिया जाये कि बर्फ नामक वस्तु की सत्ता ही नहीं। आजकल के लोग शास्त्रोक्त तथ्यों से अनभिज्ञ हैं, इसी कारण से क्या उन्हें अस्वीकार करना होगा ? तामसी प्रकृति के पुरुषों की विशेषता यही है कि वे लोग अपने मन में जिस वस्तु की धारणा नहीं कर पाते, उसे असत्य कह कर उड़ा देते हैं। वे लोग जहाँ तक जानते हैं, उससे आगे इस जगत में और भी कुछ है, अथवा हो भी सकता है, यह विश्वास नहीं कर पाते। उनकी तामसी प्रकृति उन्हें ऐसा विश्वास नहीं करने देती।

तुम हरिदास साधु के वृत्तान्त को जानते हो ? नहीं जानते तो 'हरिदास साधु' नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई है, उसे पढ़ कर जान सकते हो। जब महाराजा रणजीतसिंह पंजाब में राज्य करते थे तब

हरिदास साधु पंजाब गया था। वह समाधि लगा कर अनेक दिनों तक भूमि के नीचे वास कर सकता था। महाराजा रणजीतसिंह ने यह बात सुन कर साधु को इस कार्य के लिये सम्मत कर, उसे एक बक्स के भीतर बन्द कर दिया। बक्स को अपने सामने ताला लगा कर, उस पर अपनी मोहर लगाई और मिट्टी के नीचे गाड़ दिया। बक्स की चाबी अपने पास रख ली। जिस स्थान पर बक्स को भू-गर्भ किया था वहाँ संत्रियों के पहरे का प्रबन्ध कर दिया था। इस प्रकार से चालीस दिन बीत जाने पर साधु को बाहर निकालने पर देखा तो साधु मरा जैसा था। वहाँ अनेक अंग्रेज उपस्थित थे। उनमें एक दो डाक्टर भी थे। उन्होंने साधु की परीक्षा कर कहा - ''यह मृत हो चुका है, कुछ भी करो, यह पुनः जीवित नहीं हो सकता।'' इसके अनन्तर साधु के शिष्यों द्वारा अनेक प्रक्रियायें करने पर साधु चैतन्य हो गये। उपस्थित जन, और विशेष कर अंग्रेज लोग अत्यन्त विस्मित हुये। यह जो ऐतिहासिक यथार्थ घटना लिपिबद्ध की गयी है, क्या इसे अलौकिक कह कर अस्वीकार किया जा सकता है ? ऐसी अवस्था में यही विचार करना उचित है कि इस जगत में कुछ भी विलक्षण अथवा अलौकिक नहीं। हम अपनी क्षुद्र बुद्धि से अलौकिक घटनाओं को अवगत नहीं कर पाते। पूर्णतया अनुसंधान करने पर हरिदास साधु की घटना की भाँति अनेक आश्चर्य समझ में आ जायेंगे।

कल्प और मन्वन्तर

शिष्य - यदि शास्त्र सब भ्रम - रहित हैं, तो उनमें अनेकता क्यों? रामायण के अनेक वृतान्त , शकुन्तला के उपाख्यान की अनेक घटनायें जो भिन्न भिन्न पुराणों में विभिन्न रूप से मिलती हैं, इसका कारण क्या है ? गुरु - इसका कारण यह है कि शास्त्रों के रचयिता विभिन्न कल्पों की घटनाओं को दिव्य दृष्टि द्वारा देखकर भिन्न भिन्न शास्त्रों में लिख गये हैं। घटनाओं में विभिन्नता का हेतु यही है। देखो, दुर्गासप्तशती में जिन घटनाओं का वर्णन है वे स्वारोचिष मन्वन्तर में घटित हुई थीं। आजकल वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है। वैवस्वत मन्वन्तर के व्यासदेव ने वह वृत्तान्त लिखा है। देखो, ब्रह्माण्ड और पद्म

दोनों पुराणों में रामावतार की कथा है। जब यह देखें कि दोनों पुराणों में वर्णन की हुई रामावतार की कथाओं में कुछ कुछ भिन्नता है, तो यह समझना चाहिए कि व्यासदेवजी दो विभिन्न कल्पों के रामावतारों के वृत्तान्तों को दिव्य दृष्टि से साक्षात्कार कर उन पुराणों में भिन्न रूप से लिख गये हैं। जहाँ भी घटनावृत्तों में विभिन्नता और वैषम्य दीखे, वहां वे विभिन्न विवरण भिन्न-भिन्न कल्पों के हैं, ऐसा विचारना चाहिए। इस सम्बन्ध में लघुभागवत् ग्रन्थ में इस प्रकार लिखा है।

शास्त्रों में कोई-कोई विषय किसी-किसी अंश में विभिन्न रूपों में है। जब किसी पुराणादि का दूसरे ग्रन्थ से वैषम्य दीखे तो वे सब पृथक पृथक कल्पों की कथाऐं हैं, यह कह कर विरोध का परिहार करना होगा। इस सिद्रान्त का आश्रय लेने से फिर किसी शास्त्र में परस्पर विरोध नहीं रहेगा।

शिष्य - कल्प की बात जो आपने कही है, उसे मैं अच्छी तरह से नहीं समझा। कल्प क्या चीज है ?

गुरु - कल्प समय का मान है। ऋषियों ने जिस प्रकार से काल के परिमाण निश्चित किये हैं, वह तुम्हें कहता हूँ। ऋषियों ने काल का विभाग इस प्रकार किया है:

एक बार में आँख के झपकने का नाम है--निमेष।

15 निमेष में	1 काष्ठा
30 काष्ठा में	1 कला
30 कला में	1 क्षण
12 क्षण में	1 मुहूर्त
30 मुहूर्त्त में	1 अहोरात्र
30 दिन में	1 मास
12 मास में	1 वर्ष
1728000 वर्ष में	सत्ययुग
1296000 वर्ष में	त्रेतायुग

864000 वर्ष में	द्वापर युग
432000 वर्ष में	कलियुग
4 मानवयुगों में	1 दैवयुग वा महायुग
71 3/7 महायुगों में	1 मन्वन्तर
1000 या 14 मन्वन्तरों में	1 कल्प वा ब्रह्मा का एक दिन
30 कल्पो में	ब्रह्मा का एक मास

ब्रह्मा के 360 दिनों अथवा कल्पों में ब्रह्मा का एक वर्ष होता है। एसे 100 वर्ष ब्रह्मा की पूर्ण आयु होती है। ब्रह्मा के ऐसे100 वर्ष व्यतीत होने पर ब्रह्मा का लय होता है। उसी समय में प्रलय होती है। इसे नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। तदनन्तर नूतन ब्रह्मा प्रकट होकर फिर से सृष्टि रचते हैं। ब्रह्मा के 50 वर्षों को एक परार्ध कहते हैं। दो परार्ध ब्रह्मा की परमायु होती है। एक परार्ध का समय अर्थात ब्रह्मा के 50 वर्ष महाविष्णु का एक दिन होता है। दूसरा परार्ध रात्रि। एक मन्वन्तर काल तक एक इन्द्र का आधिपत्य रहता है। चौदह मन्वन्तरों में एक कल्प अथवा ब्रह्मा का दिन। अत: ब्रह्मा के एक दिन में चौदह इन्द्रों का परिवर्तन हो जाता है।

मनुष्यों के एक वर्ष में देवताओं का एक दिन होता है। उत्तरायण देवाताओं का दिन और दक्षिणायन रात्रि होती है।

मनुष्यों के एक मास में पितृलोक का एक दिन बीतता है। कृष्णपक्ष रात्रि होती है।

चौदह मन्वन्तरों के नाम स्वायंभुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्ष-सावर्णि, ब्रह्म-सावर्णि, धर्म-सावर्णि, रूद्र-सावर्णि, देव-सावर्णि और इन्द्र-सावर्णि।

ब्रह्मा के एक मास में तीस कल्प होते हैं। उनके नाम-श्वेतवराह, नीललोहित, वामदेव, गाथान्तर, रौरव, प्राण, वृहत्, कंदर्प, सव्य, ईशान, ध्यान, सारस्वत, उदान, गारूड़, कौर्म, वारसिह, समाधि, आग्नेय, विष्णुज, वंश, सोमवंश, भावन, वैकुण्ठ, आर्चिष, वल्लीकल्प, रथान्तर, वैराज, गौरी, महेश्वर और पितृकल्प। इन तीस कल्पों में कौर्म कल्प ब्रह्मा की पूर्णिमा और पितृकल्प अमावस्या होती है।

छः ऋतु, बारह मास, सात बार, जैसै पुनः पुनः आवर्तित होते रहते हैं, वैसै ही चतुर्दश मन्वन्तर और तीस कल्प पुनः पुनः आवर्तन करते रहते हैं।

शास्त्र में कहा है-

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षय :।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा ।।

प्रलय काल में इतिहास के सहित सम्पूर्ण वेद अन्तर्हित हो रहे थे। महर्षियों ने स्वयंभू के प्रसाद से और अपने तपोवल से उन्हें प्राप्त किया।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में मार्कण्डेय के प्रति वज्र का प्रश्न-

य एते भगवता प्रोक्ता मनवश्च चतुर्दश ।
नित्यं ब्रह्म दिने प्राप्ते त एव क्रमाद्द्विज ।।

इस पर मार्कण्डेय जी का उत्तर

एत एव महाराज मनवश्च चतुर्दश ।
कल्पे कल्पे त्वया ज्ञेया नात्र कार्या विचारणा ।
एकरूपास्तथा प्रोक्ता ज्ञातव्याः सर्व एव हि।।

वज्र का प्रश्न-हे द्विज ! आपने जो चौदह मनुओं के नाम कहे हैं, क्या ये प्रतिकल्प में पुनः पुनः उत्पन्न होते हैं अथवा अन्य कोई महात्मा मनु का पद ग्रहण करते हैं? मेरे इस संशय को निवृत कीजिये।

मार्कण्डेय जी का उत्तर :- ये ही चौदह मनु प्रत्येक कल्प में आविर्भूत होते हैं। इस विषय में तुम कुछ सन्देह मत करो। सब कल्पों में ऐसा ही होता है, यह जानो। जिस प्रकार वार, पक्ष, मास पुनः पुनः आवर्त्तन करते हैं, वैसे ही सब युग बारम्बार पुनरावर्त्तन करते हैं।

पद्मपुराण भूमिखण्ड अध्याय 23 में कहा है कि योगेश्वर विष्णु कल्प के अन्त में पूर्व की भांति समुदाय सृष्टि करते हैं। वेद, देवता और राजागण अपने पूर्व चरित्रों को लेकर पुनः प्रादुर्भूत होते हैं।

वेदान्त दर्शन में भगवान् वेदव्यास ने सृष्टि के सम्बन्ध में कहा है:

जैसै कपड़ा पहिले तन्तुरूप में सम्बेष्टित रहता है, वयन होने पर प्रसारित होता है, सृष्टि का भी इसी प्रकार प्रादुर्भाव होता है।

पहले जो कल्प और मन्वन्तर कहे हैं, उन प्रत्येक कल्प में शास्त्रों के प्रणेता ऋषिगण पृथ्वी में अवतार लेकर शास्त्रों को रचते हैं। इस रीति से प्रत्येक कल्प में पुराण आदि समस्त शास्त्र प्रणीत होते हैं। शास्त्रों में वर्णन की हुई घटनाओं में जो भेद पाये जाते हैं, उन का हेतु यही है कि भिन्न भिन्न कल्पों की घटनावलियों के विवरण जैसै थे वैसे वहां दिये गये हैं। पाश्चात्य देशों के विद्वान और हमारे देशी भाई जो उन के शिष्य हैं, इस सिद्धान्त को न जान कर बहुत गड़बड़ करते हैं। महर्षि वेदव्यास ने विभिन्न कल्पों की घटनाओं को विभिन्न पुराणों में वर्णन किया है। इस सिद्धांत को ध्यान में रख कर यदि ये लोग देखें तो शास्त्रों के विषय में किसी प्रकार भी भ्रान्ति में न पड़ कर एक निश्चित सिद्धान्त पर पहुँच जायें। शास्त्रों में भी इस सिद्धान्त का उल्लेख है परन्तु तमोगुणी पाश्चात्य विधा उन विद्वानों को यह बात समझने ही नहीं देती ।

विभिन्न कल्पों की घटनायें पृथक्-पृथक् शास्त्रों में लिखी जाने पर घटना विवरणों में कुछ कुछ भिन्नता हो जाती है इस तथ्य को गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी रामायण में विशद्रूप से दर्शाया है। प्रतिकल्प वैवस्वत मन्वन्तर के अट्ठाईसवें त्रेता युग में भगवान राम अवतार ग्रहण करते हैं। श्रीरामचन्द्र का वनवास, रावण द्वारा सीता का अपहरण, रावण वध, सीता वनवास, ये सभी घटनायें घटित होती हैं। सभी त्रेतायुगों की इन घटनाओं में एकरूपता होने पर भी व्यष्टि रूप में कुछ-कुछ पृथकता हो जाती है।

एक त्रेता युग में बैकुण्ठ के द्वारपाल जय और विजय सनक ऋषि के श्राप से रावण और कुम्भकर्ण होकर जन्म ग्रहण करते हैं। दूसरे त्रेता युग में जलन्धर दैत्य रावण होकर जन्म लेता है। जलन्धर की पत्नी के शाप को अंगीकार कर भगवान रामावतार लेते हैं और रावण रूपी जलन्धर दैत्य के साथ युद्ध कर उसका वध करते हैं। अन्य त्रेता युग में रुद्र के दो गणों ने देवर्षि नारद के शाप से रावण और कुम्भकर्ण के रूप में जन्म लिया। उसी युग में देवर्षि नारद द्वारा भगवान को 'तुम मानुष जन्म पाओ'' यह शाप देने से भगवान ने रामावतार लिया। अन्य एक त्रेता में स्वायम्भुव मनु और उन की पत्नी शतरूपा की प्रार्थना पर उन के घर में पुत्र जन्म स्वीकार कर रामावतार ग्रहण किया था। इस प्रकार

तुलसीदास जी ने और भी रामावतार के वृत्तांत और रावण कुम्भकर्ण के अनेक जन्मों के वर्णन अपनी रामायण में दिये हैं। उन सब का उल्लेख यहां नही किया जाता है। इतने से ही तुम समझ सकते हो।

महाप्रभु चैतन्यदेव के सम्बन्ध में भी हम यही देखते हैं। श्री चैतन्य-भागवत् ग्रन्थ में उस का उल्लेख है। सन्यास ग्रहण करते समय उन्होंने अपनी माता शची देवी को कहा था।

''आगामी दो जन्मों में भी इस संकीर्तन धर्म के प्रचार के लिये मैं तुम्हारा पुत्र होऊँगा निकट भविष्य में।''

मध्य खण्ड अध्याय 26

परम पूजनीय श्रीमद्विजयकृष्ण गोस्वामी और वृन्दावन-वासी परलोकगत महापुरुष श्रीमत् गौरकिशोरदास (पूर्व नाम गौरचन्द्र- शिरोमणि) ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार से की है कि आगामी दो कलियुगों के आने पर श्रीमान् महाप्रभु फिर शची देवी के गर्भ में जन्म ग्रहण कर संकीर्तन धर्म का प्रचार करेंगे। इस प्रकार शास्त्रों में अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं जिससे ज्ञात होता है कि प्रत्येक कल्प में, मन्वन्तर में और प्रत्येक युग में जो कार्य होते हैं वे समष्टिरूप में समान होते हुए भी व्यष्टिरूप में कुछ कुछ भिन्नता लिये होते हैं।

शिष्य - आपने समय के सम्बन्ध में जो कहा है उसे मैं हृदयंगम नहीं कर पाता। और क्या इस प्रकार होना सम्भव है ?

गुरु - असम्भव कौन सी बात है ? भगवान अनन्त हैं। अनन्त का अर्थ यह नहीं कि भगवान केवल भविष्य की ओर ही अनन्त हैं, अतीत की ओर अनन्त नहीं, ऐसी बात नहीं। वे भगवान जैसे भविष्य की ओर अनन्त हैं अतीत की ओर भी वैसे ही अनन्त हैं। ऐसी स्थिति में काल भी तो अनन्त है, वह भविष्यत् और अतीत दोनों दिशाओं में अनन्त है। अतः यह स्वीकार करना होगा कि अनन्त काल व्यतीत हो गया है। असंख्य सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि बीत चुके हैं। नहीं तो भगवान और काल अतीत की ओर शान्त ओर सीमित हो जायेंगे। पाश्चात्य पण्डित इस विषय में बहुत गड़बड़ करते हैं। उनमें अनेक तो बाईबल को मानते नहीं परन्तु वे अतीत के विषय में बाईबल के मत को अनुसरण कर समस्त

घटनाओ को छः हजार वर्षों के अन्दर ही डालना चाहते हैं। बाईबल के मत से कुछ कम छः हजार वर्ष पहले पृथ्वी रची गयी थी। उनकी सब मिलाकर पूंजी छ: हजार वर्ष हैं।

विल्सन साहिब ने हमारे पुराणों का जो समय बताया है उसको पढकर हँसी रोके नहीं रुकती। उनके मत से श्रीमद्भागवत ईसा की तेरहवीं शताब्दी में रचा गया था। अन्य पुराणों और भागवत के सम्बन्ध में उन्होंने जो समय बताया है वह पूर्णतया भ्रान्त है। अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक महाकवि कालिदास द्वारा रचित है, यह सभी जानते हैं। कालिदास ने पद्मपुराणोक्त शकुन्तला उपाख्यान के आधार पर अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक रचना की थी । महाभारत में भी शकुन्तला उपाख्यान है जरूर, परन्तु पद्मपुराणोक्त शकुन्तला उपाख्यान में दुर्वासा का शाप, अभिज्ञान द्वारा शाप का अन्त, अप्सरा तीर्थ में अंगूठी का गिरना ये सब वृत्तान्त हैं। महाभारत के शकुन्तला उपाख्यान में ये सब नहीं। कालिदास ने पद्मपुराण से ही सब वृतान्त लिये हैं और उन्होने अपने रघुवंश नामक प्रसिद्व काव्य ग्रन्थ की घटनावली भी पद्मपुराण से ली है। विल्सन साहिब ने तेरहवीं से सोलहवीं शताब्दी पद्मपुराण का समय कहा है, परन्तु कालिदास त्रयोदश शताब्दी से बहुत पहिले के हैं। जर्मन पण्डित लासन साहिब के मत से वे दूसरी शताब्दी के, वेबर साहिब के मत से चौथी शताब्दी के कर्न, मैक्समूलर, डाक्टर रामदास और डाक्टर भाऊ दास जी के मत से छठी शताब्दी के हैं। द्वितीय, चतुर्थ अथवा षष्ठ शताब्दी के आदमी होकर उन्होंने त्रयोदश शताब्दी अथवा उससे परवर्ती समय में विरचित पद्मपुराण से अपने अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक और रघुवंश के उपाख्यान कैसे संग्रहित किये, यह समझ में नहीं आता। इस प्रकार पश्चिम देशों के विद्वान् हमारे शास्त्रों के विषय में जिसको जो अच्छा लगता है, बिना विचारे कह देते हैं। इस देश के विद्वानों की ऐसी घोर दुर्दशा है और ऐसा अध:पतन हो गया है कि वे बिना विचार किये उन लोगों के वचनों को स्वीकार कर लेते हैं। हमारे देश के एक विद्वान महाशय ने मनुसंहिता ईसा की बारहवीं वा तेरहवीं शताब्दी में लिखी गयी थी यह कहने में कुछ भी संकोच अनुभव नहीं किया। सब को ज्ञात है कि मनुसंहिता सत्ययुग की स्मृति है।

कृते तु मानवो धर्मस्त्रेतायां गौतमः स्मृतः ।
द्वापरे शंखलिखितौ कलौ पाराशरः स्मृतः ॥

पराशर संहिता ।

मनुसंहिता की व्यवस्था अनुसार सत्ययुग में सभी धर्म कार्यों का निर्वाह होता था। मनुसंहिता सत्ययुग की, गौतमसंहिता त्रेतायुग की, शंखलिखित स्मृति द्वापरयुग की और पराशर संहिता कलियुग की स्मृति है- यह बात हमारे शास्त्रो में लिखी है। मनु के अनुशासन के अनुसार सत्ययुग, गौतम संहिता के अनुशासन के अनुसार त्रेतायुग, शंख संहिता के अनुशासन के अनुसार द्वापर और पराशर संहिता के अनुसार कलियुग में सब राज कार्य और समाज कार्य चलते थे। सत्य,त्रेता आदि चारों युगों में धर्म, समाज आदि के जितने भी कार्य होते थे वे उल्लिखित चारों स्मृतियों के मतानुसार ही सम्पन्न होते थे और हो रहे हैं। अब विचार कर देखिए, मनु संहिता यदि सत्ययुग की स्मृति और धर्म शास्त्र था तो कलियुग के तीन-चार हजार वर्ष बीतने पर वह कैसे रची गयी ? पहले ही कहा है कि मनुसंहिता सत्ययुग की स्मृति है। यह शास्त्र में भी उल्लिखित है। शास्त्र के ये वचन क्या मिथ्या हैं ? क्या शास्त्रकार ऐसी बातें लिख गये हैं जिसका सिर पैर नहीं ? क्या उनकी बातों को हमारे देश के विद्वान नहीं समझते ? समझते हैं केवल पश्चिमी विद्वान ? तुम्हें पहले ही कहा है कि हमारे शास्त्रों को, हमारे धर्म को समझने की क्षमता पाश्चात्य जाति में बिल्कुल ही नहीं। जिनका जन्म, आहार और विहार सब कुछ ही तामसिक है, वे ब्रह्मज्ञानयुक्त ऋषियों के वाक्यों को, स्मृतिपुराण आदि को, वेदों को समझ सकें; यह किसी भी अवस्था में सम्भव नहीं। हमारा यह मत पढ़कर, संभव है, अनेक जन असन्तुष्ट हों । परन्तु जिन लोगों के शरीरों में ऋषियों का पावन रक्त प्रवाहित हो रहा है, जो हिन्दू-धर्म और हिन्दू-शास्त्रों की अलौकिकता से परिचित हैं, जो सात्विक प्रकृति के हैं, वे मेरे इस मत से प्रसन्न नहीं तो, असंतुष्ट कभी नहीं होंगे। ऋषिगण शास्त्रों में मिथ्या अथवा काल्पनिक बातें लिख गये हैं- यह बात कोई भी हिन्दू सन्तान स्वीकार नहीं कर सकता है, न कह सकता है।

सृष्टि के विषय में

शिष्य - शास्त्रों में प्रतिपादित तत्त्व मैं भली प्रकार समझ नहीं पाता। आप कृपा कर उन्हें समझा दीजिए।

गुरु - तुम एक-एक करके पूछो।

शिष्य- सृष्टि किस प्रकार से उत्पन्न हुई थी ? कृपा कर यह समझाईये ।

गुरु - सृष्टि की उत्पत्ति का विषय नितान्त जटिल है। अच्छी तरह से इसको समझाना भी अतिशय कठिन है। तो भी सृष्टि के सम्बन्ध में शास्त्रों में जो कुछ है, संक्षेप में तुम्हें बताता हू ं । सृष्टि के विषय में सांख्य दर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल ने जो कुछ प्रतिपादित किया है, सभी शास्त्रों ने उसका समर्थन किया है। सृष्टि के विषय में उन्हीं का मत प्रमाण माना जाता है। भगवान ने गीता में सांख्य मत की प्रधानता स्वीकार की है।

भगवान् कपिल के मत में सृष्टि के पहिले एकमात्र परमेश्वर और उनकी मूल प्रकृति वर्तमान थी। सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की अनन्त शक्तियों में एक शक्ति है - प्रकृति अथवा माया । ऋषियों ने प्रकृति को अनिर्वचनीय कहा है। वे कहते हैं प्रकृति के विषय में बहुत कुछ जाना नहीं जा सकता। केवल इतना ही ज्ञात हो सकता है कि सत्व, रजः और तमः ये तीन गुण प्रकृति में विद्यमान हैं। प्रकृति के अलावा परमेश्वर की और एक शक्ति है, उसे क्षेत्रज्ञ शक्ति कहते हैं। गीता में इस शक्ति को जीवशक्ति कहा है। यह जीवशक्ति ही सांख्यदर्शन का पुरुष है।

सत्वरजस्तमः इत्येवैषा प्रकृत् ः सदा।

सत्व रजः और तमः इन तीनों पदार्थों के सम्मिलन का नाम प्रकृति है।

''सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।''

सत्व, रज और तमो गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है।

प्रकृति जब क्रियाशून्यावस्था में रहती है, कार्य रहित स्थिति में होती है, तब सत्व, रजः और तमः ये तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं

- एक ही परिमाण में होते हैं।

सत्व, रजः और तमः इन तीनों गुणो में सत्व गुण लघु, हल्का (ऊपर उठने वाला) प्रकाश स्वभाव का और सुखरूप है। रजोगुण उपष्टम्भक (अर्थात उत्तेजक, प्रेरक, कार्योन्मुख करने के स्वभाव का) गतिशील और दुःखात्मक है। तमोगुण आच्छन्न करने वाला और मोह में डालने वाला है। निद्रा, आलस्य और मूढता तमोगुण के फल हैं। सत्व गुण का वर्ण श्वेत, रजो गुण लाल और तमः कृष्ण वर्ण होता है।

परमेश्वर की सृष्टि रचना की ईच्छा होने पर वे अपनी माया शक्ति में चैतन्यरूप वीर्य का आधान कर उसे क्षुभित करते हैं। परमेश्वर द्वारा प्रकृति को क्षुब्ध करने पर, उसमें वीर्याधान करने पर, प्रकृति में विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है। तब वह सृष्टि के कार्य में लग जाती है।

''दैवात् क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान् ।
आधत्त वीर्यं साऽसूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम् ।।''

जीवों के अदृष्टों के हेतु से प्रकृतिगत गुणों में क्षोभ होने पर परम पुरुष ने उस प्रकृति में अपने वीर्य अर्थात् चित् शक्ति को निवेशित किया। उससे हिरण्मय महत्तत्त्व की उत्पत्ति हुई।

भगवान की प्रेरणा से प्रकृति जब सृष्टि रचना में प्रवृत होती है तब उसमें एक प्रकार का परिणाम, विकार और परिवर्तन होने लगता है। प्रकृति में परिवर्तन होने से, उससे विकार होने से सत्व आदि तीनों गुण जो प्रकृति की निष्क्रिय अवस्था में, कार्यशून्य अवस्था में साम्य भाव में थे, उनमें विषमता होने लगती है। तीनों गुणों में विषमता होने पर, एक गुण दूसरे को अभिभूत कर लेता हैं। तब सृष्टि का कार्य होने लगता है। प्रकृति में परिणाम होने से उसमें विकृति होती है। प्रकृति के प्रथम परिणाम अथवा विकृति का नाम है महत्तत्त्व। महत्तत्त्व का दूसरा नाम है बुद्धितत्व।

यह बुद्धितत्व अथवा महत्तत्त्व समष्टि और व्यष्टि भेद से दो प्रकार का है। ब्रह्माण्ड के समस्त अखण्ड बुद्धितत्व को समष्टि बुद्धितत्व और प्रत्येक पुरुष अथवा जीव में जो बुद्धितत्व है उसे व्यष्टि बुद्धितत्व कहते हैं। इसका दृष्टान्त सरोवर के जल से दिया जा सकता है। बिन्दु-बिन्दु

जल की समष्टि को एकत्रित करने से सरोवर की समष्टि जल राशि बनती हैं। सरोवर का समस्त जल वा जलराशि समष्टि जल और वही बिन्दु-बिन्दु जल हुआ व्यष्टि जल। इसी प्रकार जगत का समस्त बुद्धितत्व, एक अखण्ड बुद्धितत्व हुआ समष्टि बुद्धितत्व, इसी प्रकार प्रत्येक जीव का बुद्धितत्व हुआ व्यष्टि बुद्धितत्व। इन समष्टि और व्यष्टि बुद्धितत्वों के अलग-अलग अधिष्ठाता देवता हैं। प्रकृति जड़ स्वभाव की और चेतनाशून्य है, भगवान जब उसमें चैतन्य निवेशित कर उसे क्षुभित करते हैं तब वह प्रकृति सृष्टि कार्य में प्रवृत्त होती है। भगवान प्रकृति में चैतन्य निवेशित करते हैं इसका अर्थ यह है कि भगवान स्वयं प्रकृति पर अधिष्ठित हो कर, प्रकृति के अन्तर में निविष्टि होकर उसे चैतन्यमयी करते हैं। जैसे रथ का सारथी रथ पर चढ़कर अपनी इच्छा अनुसार रथ को चलाता है, उसे नियन्त्रित करता है, भगवान भी उसी भांति प्रकृति पर अधिष्ठित होकर, प्रकृति के नियन्ता सम्पन्न होकर, उसके द्वारा सृष्टि कार्य कराते हैं। यदि भगवान प्रकृति पर अधिष्ठित होकर न रहें, सारथी की भांति उसे परिचालित और नियन्त्रित न करें, तो ऐसी स्थिति में उनका सृष्टि कार्य नियमित और श्रृंखलाबद्ध नहीं होगा। सृष्टि के कार्यो को ध्यान से देखने पर प्रत्येक कार्य में सुज्ञान का परिचय पाया जाता हैं। उसमें जो चैतन्य का विकास देखा जाता है, ज्ञानमय भगवान् की चैतन्यशक्ति का उस प्रकृति में निहित होना ही इसका एकमात्र हेतु है। भगवान की जो चैतन्यशक्ति प्रकृति में विनिष्ट होकर उसे नियन्त्रित कर रही है- सृष्टि रचना में प्रेरित कर रही है, वही भगवान की चैतन्यशक्ति उसकी अधिष्ठात्री देवता है। जगत् के प्रत्येक पदार्थ के अन्तर में भगवान की चैतन्यशक्ति स्थित होकर, उस पदार्थ को परिचालित और नियन्त्रित करती है। प्रत्येक पदार्थ के अन्तर में स्थित वह चैतन्यशक्ति उन पदार्थों की अधिष्ठात्री देवता होती है। इन समस्त देवताओं के प्रत्येक के पृथक्-पृथक् ध्यान, विग्रह और प्रतीक हैं। जीवित शंख तो तुमने देखा है? ऊपर कठोर खोल होता है, उसके अन्दर सजीव प्राणी अन्दर में बैठा होता है। यह प्राणी अपने ऊपर के खोल को इच्छानुसार चलाता है। पदार्थों के अन्तर में स्थित चैतन्य शक्ति (अधिष्ठात्री देवता) भी वैसे ही कार्य करती है।

गङ्गा नदी है। उसकी जल राशि प्रवाहित हो कर समुद्र में पहुँचती है। यह जलराशि अचेतन पदार्थ है। परन्तु उस अचेतन जलराशि के अन्तर में सचेतन देवता का वास है। उस देवता का ध्यान, प्रतीक और मूर्ति है। हमारे देश में गङ्गादशहरा के दिन जो गङ्गाकी पूजा की जाती है, वह अचेतन जड़ की पूजा नहीं, गंगा में बहते हुए जड़- पदार्थ जल की कोई पूजा नहीं करता। जल के अन्तर में जो चैतन्यमयी देवता विद्यमान है उसी की पूजा करते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ के भीतर उसका अधिदैवत अंश रहता है। समस्त जड़ पदार्थों के दो अंश हैं-अधिभूत अंश और अधिदैव अंश। हम लोग केवल अधिभूत अंश को देख पाते हैं, अधिदैव हमारी दृष्टि में नहीं आता।

पूर्व में जो समष्टि और व्यष्टि बुद्धितत्वों की बात कही है, उन दोनों प्रकार के बुद्धितत्वों में उनकी अधिशठात्री शक्ति वर्तमान रहती है, वे दोनो प्रकार के बुद्धितत्वों के अन्तर में स्थित हो कर उन्हें परिचालित, नियन्त्रित एवं श्रृंखलाबद्ध करती है। उन दोनों देवताओं के नाम हैं-ईश्वर और प्राज्ञ। समष्टि बुद्धितत्व की अधिष्ठात्री देवता का नाम है ईश्वर, और व्यष्टि बुद्धितत्व देवता का नाम है - प्राज्ञ।

महत्तत्व में परिणाम होने पर अहंत्तत्व ,अहंत्तत्व में विकृति होने पर पञ्चतन्मात्रा अथवा परमाणु, पञ्चतन्मात्राओं में परिवर्तन होने पर सूक्ष्मभूत, सूक्ष्मभूतों में परिवर्तन होने पर स्थूल पञ्चभूत उत्पन्न होते हैं। स्थूलभूत ही यह दृश्यमान जगत् है। ये स्थूलभूत भी समष्टि और व्यष्टि भेद से दो प्रकार के होते हैं, इनके भी पृथक्-पृथक् अधिष्ठात्री देवता हैं। उन के नाम हैं-हिरण्यगर्भ, वैश्वानर और विश्व। यह जो ईश्वर प्राज्ञ, हिरण्यगर्भ आदि सब देवताओं के नाम कहे हैं, उन में ईश्वर और प्राज्ञ कारण शरीर अथवा आनन्दमय कोष के देवता हैं, हिरण्यगर्भ अथवा तैजस लिंग वा सूक्ष्म शरीर के, वैश्वानर वा विश्व स्थूल देह अथवा अन्नमय कोष के अधिष्ठाता देवता हैं। विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय इन तीन कोषों से सूक्ष्म शरीर बनता है, पाँचों ज्ञानेन्द्रिय, पाँचों कर्मेन्द्रिय, पाँचों प्राण और मन तथा बुद्धि इन सत्रह के समवाय को सूक्ष्म शरीर कहते हैं।

बुद्धि पाँचों ज्ञानन्द्रियों से सम्मलित होने पर उसे विज्ञानमय कोष कहते हैं। मन पाँचों कर्मेन्द्रियों के साथ मिलने पर उसे मनोमय कोष कहते हैं और पाँचों प्राणों (प्राण,अपान, समान, उदान व व्यान शरीर में विद्यमान इन पाँचों प्रकार की वायु) और पाँचों कर्मेन्द्रिय के साथ मिलने पर उसे प्राणमय कोष कहते हैं।

यह सब तुम्हें सांख्य और वेदान्त शास्त्रों में प्रतिपादित सृष्टितत्व संक्षेप में सुना दिया है। पहले ही कहा था कि सृष्टितत्व अतीव जटिल है। पुस्तक में पढने से, अथवा किसी दूसरे से श्रवण करने पर हृदयंगम नहीं किया जा सकता। दिव्यज्ञान के उदय होने पर, अन्तर्दृष्टि के फूटने पर यह प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। ऋषि अन्तर्दृष्टि द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन कर के इसको शास्त्रों में लिख गये हैं।

स्वर्ग और नरक

शिष्य - शास्त्रों में जो स्वर्ग और नरक के वर्णन हैं उन का क्या अर्थ है ?

गुरु - तुम्हारी बात को मै अच्छी तरह से समझ नहीं सका। खोल कर कहो।

शिष्य - मेरे प्रश्न का तात्पर्य यह है कि मनुष्य पाप और पुण्य कर्मों द्वारा नरक और स्वर्ग भोगता है, वह स्वर्ग और नरक क्या हैं?

गुरु - वे स्वर्ग और नरक लोक हैं - स्थान विशेष हैं। मनुष्य पाप और पुण्य कर्मो के करने से भिन्न भिन्न लोकों में रह कर स्वर्ग का सुख और नरक की यातनाएँ भोगते हैं।

शिष्य - परन्तु आज के समय में बहुत से लोग कहते हैं- स्वर्ग और नरक नाम के कोई स्थान नहीं। ये मन की अवस्था मात्र हैं। पाप कर्म से उत्पन्न आत्मग्लानि ही नरक और पुण्य कर्मों के करने से उत्पन्न मन की प्रसन्नता ही स्वर्ग है। शरीर से रहित निराकार आत्मा के लिये स्वर्ग और नरक किस तरह से साकार होगें ? अतः स्वर्ग और नरक नामक कोई स्थान नहीं है।

गुरु - निश्चय ही हैं। जो लोग ऐसा कहते हैं, वे परलोक के विषय में और मृत्यु के अनन्तर प्राणी की अवस्था कैसी होती है, इस विषय में कुछ भी जानते नहीं। उन की सब बातें अनुमान मूलक हैं। दूसरी बात, आजकल सभी विषयों की आध्यात्मिक व्याख्या करने की प्रथा चल पड़ी है। हमारे शास्त्रों में कहे हुए तत्वों की किसी प्रकार भी आध्यात्मिक अथवा अलंकारिक व्याख्या नहीं हो सकती । स्वर्ग और नरक के सम्बन्ध में हमारे शास्त्रकारों का जो अभिप्राय है, उसे बताता हूं।

आजकल के लोग हमारी उस पृथ्वी को छोड़ कर दूसरे लोकों में जीवों का वास है, इस बात पर विश्वास नहीं करते। विश्वपति की अनन्त सृष्टियों में एक पृथ्वी के अलावा अन्यत्र कहीं भी प्राणी नहीं हैं, वे सब सृष्टियां व्यर्थ ही रची गयी हैं, लोगों की इस बात पर विश्वास करना किसी भी बुद्धिमान के लिये युक्तियुक्त नहीं होगा। हमारी पृथ्वी जैसे एक लोक है और जैसे यहां प्राणियों का वास है, उसी प्रकार से इस विश्वपति के विश्वराज्य में असंख्य लोक हैं और वे सभी लोक प्राणियों से परिपूर्ण हैं। इन सब लोकों में कितने तो स्थूल अर्थात् हमारे चक्षुओं के गोचर में हैं और कितने सूक्ष्म अर्थात हमारी आंखों के गोचर में नहीं। चक्षुओं से प्रत्यक्ष न होते हुए भी, स्थूल इन्द्रियों द्वारा अनुभूत नहीं होने पर भी वे जड़ पञ्चभूतों से बने हैं। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश इन्हीं पञ्चभूतों की समष्टि से इस दृश्यमान अनन्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है। इन्हीं पञ्चमहाभूतों के पञ्चीकरण अर्थात् मिश्रण द्वारा सभी स्थूल लोक बने हैं। पञ्चीकरण के तारतम्य के कारण विभिन्न लोकों में विभिन्न अवस्थाएँ हो गयी हैं। जिस रीति से पृथ्वी का पञ्चीकरण हुआ है, सूर्य अथवा चन्द्रलोक का पञ्चीकरण उस रीति से नहीं हुआ। पंञ्चीकरण की विभिन्नता के हेतु पृथ्वी के प्राणी सूर्य, चन्द्र अथवा अन्य किसी ग्रह नक्षत्र में निवास कर नहीं पाते। परन्तु उन लोकों में उन लोकों के निवास योग्य प्राणी हैं।

पञ्चीकरण किसे कहते हैं, यह तुम्हें बताता हूं-

''पञ्चीकरणं तु आकाशादि पञ्चस्वेकैकं द्विधा समं विभज्य तेषु दशषु भागेषु मध्ये प्राथमिकान् पञ्च भागान् प्रत्येकं चतुर्द्धा समं विभज्य

तेषां चतुर्णां भागानां स्वस्वद्वितीयार्धं भागं परित्यज्य भागान्तरेषु प्रयोजनम्।'' *वेदान्तसार*

आकाशादि पञ्चभूतों में प्रत्येक को दो समान भागों में विभाग कर उन दो अंशों के एक अंश को समान चार भागों में विभाग करना होता है। अनन्तर चारों भूतों के आधे भाग के चार भागों के एक एक भाग को दूसरे भूत के आधे अंश के साथ मिलाने पर पंञ्चीकरण हो जायेगा । उदाहरणः-

सूक्ष्म आकाश ॥)	सूक्ष्म वायु ॥)
,, वायु =)	,, आकाश =)
,, अग्नि =)	,, अग्नि =)
,, जल =)	,,जल =)
,, पृथ्वी =)	,, पृथ्वी =)
यह हुआ स्थूल आकाश 1)	यह हुआ स्थूल वायु 1)

पहिले जिन लोकों का उल्लेख किया है, उनके अलावा और भी अनेक सूक्ष्म लोक हैं। उन सब लोकों को हम लोग अपनी आँखों से देख नहीं सकते। जनः लोक, तपःलोक, सत्य लोक, आदि सूक्ष्म लोकों में गिने जाते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति कहते हुए तुम्हें सूक्ष्म भूत नाम के एक तत्व की बात कही है। हम लोग सभी पदार्थों के स्थूल रूप को देख पाते हैं। सब स्थूल पदार्थों के अन्तर में उनका सूक्ष्म रूप है। दर्पण में जैसे पदार्थ का प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है, पदार्थों का सूक्ष्म रूप उसी प्रकार हमारी स्थूल इन्द्रियों द्वारा किसी भी प्रकार ग्रहण नहीं किया जाता। परन्तु इन्द्रियातीत होने पर भी इन सूक्ष्म रूपों की वास्तविक सत्ता है। जो लोग तपस्या से दिव्य दृष्टि प्राप्त करते हैं, वे उन सब सूक्ष्म लोकों को देख सकते हैं। मनुष्य जब स्थूल शरीर को परित्याग करता है, तब दर्पणगत प्रतिबिम्ब की भाँति उसका सूक्ष्म शरीर अथवा लिंगदेह स्थूल शरीर से बाहर निकल जाता है।

''देहेन जीवभूतेन लोकाल्लोकमनुब्रजन् ।
भुञ्जान एव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान् ॥ ''

श्रीमद्भागवत 3।31।43

मनुष्य सूक्ष्म देह से एक लोक से दूसरे लोक में जाकर कर्मों के फल भोगता है।

सूक्ष्म शरीर में भी स्थूल शरीर के समान ही हाथ-पैर आदि सभीअंग विद्यमान रहते हैं। शास्त्रों में जो स्वर्ग के भोगों का वर्णन है, वे भोग जीव के सूक्ष्म शरीर द्वारा ही भोगे जाते हैं। स्वर्ग एवं नरक भी सूक्ष्म भूतों से निर्मित हैं। जीवों के सूक्ष्म देह और सूक्ष्म लोकों की बात जो तुम्हें कही है, वे सब जड़ हैं। सृष्टि की उत्पत्ति के प्रकरण में सांख्य शास्त्र में प्रतिपादित तन्मात्रा, सूक्ष्मभूत, अहंत्तत्व और वेदान्त-शास्त्र जिनको प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोषों के नाम से उल्लिखित करते हैं, वे समस्त कोष जड़ हैं परन्तु हैं वे सूक्ष्म जड़। जीव जड़निर्मित सूक्ष्म देह में सूक्ष्म लोकों में स्वर्ग और नरक के भोग भोगता है। तपस्यासे दिव्य दृष्टि लाभ करने पर, अन्तर्दृष्टि का विकास होने पर यह सब देखा जा सकता है। ऊपर कहे स्थूल और सूक्ष्म जड़मय स्थूल एवं सूक्ष्म लोकों के अलावा गोलोक, वैकुण्ठ, कैलाश, अयोध्या आदि अन्य लोक भी हैं। वे प्रकृति द्वारा गठित और जड़स्वरूप नहीं। वे हैं चिन्मय - माया की परिधि से पार, विरजा से भी परले पार वे अवस्थित हैं। जब जीव सब प्रकार की वासनाओं से मुक्त होकर माया की परिधि से दूर हो जाता है तब वह उन सब चिन्मय लोकों में निवास करने का अधिकार प्राप्त करता है। भगवान की कृपा से जो महापुरुष उन लोकों में गमन और - निवास करने का अधिकार पाते हैं, उनकी इस संसार में पुनरावृत्ति नहीं होती। गीता में भगवान ने कहा है :

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

अध्याय 15 श्लोक 6 ।

जिस स्थान में पहुँचने पर पुनरावृत्ति नहीं होती, जिस लोक को सूर्य, चन्द्र, अग्नि प्रकाशित नहीं कर पाते, वही लोक मेरा परम धाम है।

मनुष्य के इस स्थूल देह को छोड़ने पर अर्थात् मृत्यु हो जाने पर यम के दूत उसे यमलोक ले जाते हैं। पहिले जिन सब सूक्ष्म लोकों का उल्लेख किया गया है, यमलोक उनमें से एक सूक्ष्म लोक है।

यमलोक का दूसरा नाम है पितृलोक। शास्त्रों में जो नरकों का वर्णन मिलता है, यमलोक में वे सब नरक विद्यमान हैं। मृत्यु के अनन्तर जीव के यमलोक में पहुंचाये जाने पर उसके द्वारा पृथ्वी पर किये हुए पाप और पुण्य कर्मों का विचार कर धर्मराज उसके स्वर्ग और नरक के भोगों की व्यवस्था देते हैं। पृथ्वी से यमलोक निन्नानवे हजार योजन दूर है। परलोक को जाता हुआ प्राणी उस लम्बे मार्ग को दो वा तीन मुहूर्तों में पार करता है। पापीजन बड़े क्लेश से और पुण्यात्मा परम सुख और आनन्द के साथ सुखद दिव्य यानों पर चढकर जाते हैं। मृत्यु के अनन्तर पापी जनों की जैसी अवस्था होती है और जिस तरह से वे लोग यमलोक को जाते हैं यह विषय श्रीमद्भागवत से पढ़ता हूं, सुनो ।

एवं कुटुम्बभरणे व्यापृतात्माऽजितेन्द्रियः ।
म्रियते रुदतां स्वानामुरुवेदनयाऽस्तधीः ॥
यम दूतौ तदा प्राप्तौ भीमौ सरभसेक्षणौ ।
स दृष्ट्वा त्रस्तहृदयः शकृन्मूत्रं विमुञ्चति ॥
यातानादेह आवृत्य पाशैर्बद्ध्वा गले बलात् ।
नयतो दीर्घमध्वानं दण्ड्यं राज्य भटौ यथा ॥
तयोर्निर्भिन्नहृदयस्तर्जनैर्जातवेपथुः ।
पथि श्वभिर्भक्ष्यमानआर्त्तोऽयं स्वमनुस्मरन् ॥
क्षुत्तृट्परीतोऽर्कदावानलानिलैः संतप्यमानः पथि तप्तबालुके ।
कृच्छ्रेण पृष्ठे कशया च ताड़ितश्चलत्यशक्तोऽपि निराश्रयोदके ॥
तत्र तत्र पतन् श्रान्तो मूर्च्छितः पुनरुत्थितः ।
पथा पापीयसा नीतस्तरसा यमसादनम् ॥
योजनानां सहस्त्राणि नवतिं नव चाध्वनः ।
त्रिभिर्मुहूर्तैर्द्वाभ्यां वा नीतः प्राप्नोति यातानाः ॥

स्कंध 3, अध्याय 30, श्लोक 18-24 ।

कुटुम्ब के पालन में ही जीवन बिताने वाला इन्द्रियपरायण मनुष्य मृत्युकाल की असहाय पीड़ा से बेचैन होकर रोते विलखते अपने बन्धुओं के देखते-देखते प्राण त्याग देता है। तब क्रोध से भरी आँखो वाले बड़े भयानक दो यमदूत उसके पास आकर राजा के सिपाही जैसे किसी अपराधी को बांधकर ले जाते हैं, उसी प्रकार उसके गले में फांसी लगाकर, उसे प्रेतयोनी के यातना-देह में डालकर ले जाते हैं। वह प्राणी उन दोनों यम दूतों के भय से डरता-डरता मलमूत्र त्याग देता है। यमदूतों के डाँट से उसका दिल बैठने लगता है। बहुत ही दुःख होता है। उसे मार्ग में कुत्ते काटने को आते हैं। वह अपने पापों को स्मरण कर अत्यन्त दुःख पाता है। भूख - प्यास से व्याकुल सूर्य की तेज धूप, दावानल और गरम वायु के ताप से तड़फता हुआ, उन रेतीले मार्ग में जहाँ छाया नहीं, पीने को पानी नहीं, वह प्राणी यमदूतों की चाबुकों को खाता हुआ, गिरता पड़ता, उस रास्ते को पार करता है। थक कर मूर्छित हो गिर पड़ता है, फिर उठकर उस दुःखों से भरे रास्ते से यमलोक को जाता है। यमपुरी का रास्ता निन्नानवे हजार योजन दूरी पर है। यमदूतों द्वारा शीघ्रता से ले जाया हुआ वह प्राणी दो अथवा तीन मुहूर्तों में इस मार्ग को अतिक्रमण करता है और ऊपर कही यातनायें भोगता है। यमपुरी में नरक के भोग भोगने होते हैं। यमपुरी को छोड़ और कहीं नरक नहीं हैं यमपुरी में जो नरक हैं उनकी संख्या है अट्ठाईस। पापी जन इन अट्ठाईस नरकों में नाना प्रकार के दुःख भोगते हैं। नरकों के नाम और उनकी संख्या शास्त्रों में दी है, उन्हें बताता हूंः-

श्रीराजोवाच

नरका नाम भगवान् किं देशविशेषा अथवा बहिस्त्रिलोक्या आहोस्त्रिदन्तराल इति। ऋषिरुवाच -

अन्तराल एव त्रिजगत्यास्तु दिशि दक्षिणास्यामधस्ताद् भूमेरुपरिष्टाच्च जलात्। यस्यामाग्निष्वात्तादयः पितृगणा दिशि स्वानां गोत्राणां परमेन समाधिना सत्या एवाशिष आशासाना निवसन्ति।

यत्र ह वाव भगवान् पितृराजो वैवस्वतः स्वविषयं प्रापितेषु स्वपुरुषै र्जन्तुषु सम्परेतेषु कर्मावद्यं दोषमेवानुल्लाङ्घितभगवच्छासनः सगणो दमं धारयति।

तत्र हैके नरकानेकविंशतिं गणयन्ति। अथ तास्ते राजन् नामरूपलक्षणतोऽनुक्रमिष्यामः । तामिस्त्रोऽन्धतामिस्त्रो-रौरबो- महारौरवः - कुम्भीपाकः -कालसुत्र - मसिपत्रवनं - सूकरमुख - मन्धकूप - कृमिभोजन - स्तप्तशूर्मिर्वज्त्रकण्टकशाल्मली - वैतरणी - पूयोदः - प्राणरोधो - विशसनं - लालाभक्षः - सारमेयादन - मवीचि - रयःपानमिति। किञ्च क्षारकर्दमो - रक्षोगण भोजनः - शूल प्रोतो - ऽवटनिरोधनः-पर्यावर्तनः-सूचीमुखमित्यष्टाविंशतिर्नरका विविधयातनाभूमयः।

श्रीमद्भागवत स्कधं 5 अध्याय 26 श्लोक 4-7।

राजा परीक्षितने प्रश्न किया - भगवन्। नरक क्या पृथ्वी के कोई देश हैं अथवा ब्रह्माण्ड के बाहर वा भीतर में स्थित कोई देश हैं।

शुकदेव जी ने कहा - राजन्। इस त्रिलोकी में ही दक्षिण दिशा में भूमि के नीचे और जल से ऊपर जिस स्थान में अग्निष्वात्तादि पितर निवास करते हुए परम समाधि में स्थित होकर अपने अपने वर्णों के व्यक्तियों की मंगल कामना करते हैं, उस स्थान में पितरों के पति यमराज अपने गणों के साथ निवास कर अपने दूतों द्वारा अपने लोक में लाये मृतकों के कर्मानुसार पाप पुण्यों का विचार कर दण्ड की व्यवस्था करते हैं-- वे इस विषय में किसी अंश में भगवान के शासन का उल्लंघन नहीं करते -इसी स्थान में सब नरक हैं। कइयों के मत में नरक इक्कीस हैं। हे राजन्। तुम्हारे आगे इन सब नरकों के नाम और रूपों का विवरण कहता हूँ। इक्कीस नरकों के नाम हैं - तामिस्त्र, अंधतामिस्त्र, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, कालसूत्र, असिपत्रवन, सूकरमुख, अंधकूप, कृमिभोजन, संदंश, तप्तसूर्मिं, वज्रकंटक, शाल्मली, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचि, अयःपान। इनके अलावा क्षारकर्दम, रक्षोगणभोजन, शूलप्रोत,दंदशूक, अवरनिरोधन, पर्यावर्तन और सूचीमुख ये सात नरक हैं। इस लिये कुल अट्ठाईस नरक होते हैं। ये सब नरक नाना प्रकार की यातनाओं के स्थान हैं।

किस पाप के करने से कौन नरक भोगना पड़ता है, यह भी भागवत में वर्णन किया हुआ है। विस्तार के भय से वह पाठ नहीं पढा। इच्छा हो तो पांचवे स्कन्ध के छब्बीसवें अध्याय को पढकर देख लो।

यम, इन्द्र, वरुण, अग्नि, आदि के लोकों में जीव को स्वर्ग के भोग मिलते हैं, इन लोकों का विस्तार पूर्वक वर्णन पद्म पुराण के काशीखण्ड में है।

शिव शर्मा नामक एक धार्मिक ब्राह्मण तीर्थ यात्रा करता हुआ मायापुरी (हरिद्वार) में जाकर बीमार होने से मर गया। मायापुरी मोक्ष देने वाली सात पुरियों में एक है। मोक्ष देने वाली मायापुरी में मृत होने से उस स्थान के महात्म्य से उसने विष्णुलोक में जाने का अधिकार पा लिया। उसे ले जाने के लिये विष्णु के दूत दिव्य रथ लेकर उसके पास आये और उसे रथ पर चढाकर उन्होने विष्णुलोक की ओर रथ चला दिया। शिव शर्मा ने रास्ते में गन्धर्व, गुह्यक, अग्नि, वायु आदि नानालोकों को देखकर विष्णु दूतों से उन लोकों का विवरण जानना चाहा। दूतों ने शिव शर्मा के प्रश्नों के उत्तर में उन लोकों के वृत्तान्तों को एक-एक कर के कहा। काशीखण्ड में विष्णुदूत और शिव शर्मा के संवाद में पिशाच, गुह्यक, गन्धर्व, विद्याधर, यम, अप्सरा, सूर्य, इन्द्र, अग्नि, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर, ईशान, चन्द्र, नक्षत्र, बुध, शुक्र, मंगल, वृहस्पति, शनि, सप्तर्षि, ध्रुव, महः, जनः, तपः, सत्य और भूलोक व भुवर्लोक आदि अनेक लोकों के विवरण विस्तार में दिये हैं। काशीखण्ड के पूर्वखण्डमें सभी लोकों के विस्तृत विवरण हैं, इच्छा हो तो पढ़कर देख सकते हो।

जीव जब किसी लोक में भोग भोगने के लिये जाता है, तब उसका सूक्ष्म देह उस लोक के प्राणियों का जैसा शरीर होता है,उस प्रकार के देह में बदल जाता है। उसी शरीर से जीव स्वर्ग और नरक के भोग भोगता है। कल्पना करो एक मनुष्य ने पृथ्वी पर पाप और पुण्य दोनों प्रकार के कर्म किये हैं। अटूट पाप अथवा अटूट पुण्य कोई भी मनुष्य नहीं करता। वहीं पाप और पुण्य कर्म करने वाला मनुष्य मरने पर पितृलोक में पहुचा। यहां उसे पितृलोक में पाप और पुण्य के भोग भोगने होंगे। अतः उसके लिये पितृलोक के भोगों के लायक शरीर पाना आवश्यक है। नहीं तो वहां के भोग कैसे भोग सकेगा? इसलिये पितृलोक में गया हुआ जीव पितृलोक के उपयोगी शरीर को पाकर उस लोक के भोगों को भोगता है। पितृलोक के भोग जब समाप्त हो जाते हैं तब उसे

दूसरे लोकों के भोग भोगने के लिये अन्यान्य लोकों में जाना पड़ता है। उन लोकों में जाने पर वहाँ के भोग भोगने के लिये उसका देह उन लोकों के योग्य हो जाता है। जिस तरह के शरीर से उन लोकों के निवासी प्राणी वहाँ के भोग भोगते हैं, उस आगन्तुक प्राणी का सूक्ष्म देह भी बदल कर वैसे ही शरीर में परिणत हो जाता है, और इस तरह से उन उन लोकों के लायक उसका देह हो जाता है। उन देहों से वह जीव उन लोकों के भोगों को भोगता है। जीव का सूक्ष्म शरीर जो मरने के समय स्थूल शरीर से बाहिर निकल कर पितृलोक को जाता है, वह सूक्ष्म देह में परिवर्तित जीव जब भी जिस किसी लोक के भोग भोगता है, तब उस लोक के योग्य देह धारण कर के ही सब भोग भोगता है।

जीव इस प्रकार अपने किये कर्मों के फल भोग कर, पापों के लिये नरक और पुण्यों के लिये स्वर्ग भोगकर अपनी वासनाओं के अनुसार फिर जन्म ग्रहण करता है। शुभ और सत् वासनाओं से जीव उच्च योनि में और उच्च कुल में, अशुभ और असत् वासनाओं से नीच योनि में जन्म लेता है।

यामीस्ता यातनाः प्राप्य स जीवों वीतकल्मषः।
तान्येव पञ्चभूतानि पुनरप्येति भागशः।।
एता दृष्ट्वास्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा।
धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात् सदा मनः।।

मनुस्मृति अध्याय 12 श्लोक 22-23

जीव ऊपर कहे देह द्वारा यमलोक की यातनाओं को भोगकर पापरहित होकर अपने कर्मों के अनुसार पृथ्वी आदि पञ्चभूतों से बने मनुष्य पशु आदि देह धारण करता है। पापों और पुण्यों के कारण जीव की गतियों को देखकर मनुष्य को चाहिए कि वह धर्म में चित्त को लगाये।

मनुष्य मर गया, यमपुरी में पहुँच गया, यमलोक के देह को पाकर वहाँ के भोग भोग लिये। उसके अनन्तर अन्य लोकों के भोग जो भोगने थे वे सब भी उसने भोग लिए, परन्तु फिर भी उसके मन में वासनायें रह गयीं। उन वासनाओं को अनुशय कहते हैं। यह अनुशय ही पुनः देह पाने का हेतु होता है।

अनुशयो हि उपभुक्तशिष्टंकर्म। रामानुज स्वामी।

भोग के बचे हुए कर्म को अनुशय कहते हैं। जब तक मनुष्य मुक्त नहीं होता, तब तक उसके मन में वासनायें रहती हैं। उन वासनाओं को पूर्ण करने के लिये उसे फिर से पृथ्वी में जन्म लेकर देह धारण करना होता है। देह नहीं होने पर भोग हो नहीं सकता। पृथ्वी के भोग भोगने के लिये उसे पार्थिव भूतों से बने देह को धारण करना आवश्यक होता है।

अनेक जन्मों में किये हुये कर्मों से वासनाओं की उत्पत्ति होती है। जो लोग अच्छे कर्म करते हैं उनकी वासनायें शुभ और जो बुरे कर्म करते हैं उनकी वासनायें अशुभ होती हैं। शुभ वासनाओं से उन्नत योनि में और अशुभ वासनाओं से नीच योनि में जन्म मिलता है। जीव के जन्म पाने के हेतुरूप जो वासना है, वह अदृष्ट (अर्थात् पूर्वजन्म के कर्मों के संस्कार) से उत्पन्न होती है।

कर्म

शिष्य - कर्म क्या है ? वे कितने प्रकार के होते हैं ?

गुरु - जिसके द्वारा मनुष्य बंध जाता है, उसे कर्म कहते हैं। शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव का आत्मा कर्म के द्वारा ही बँधकर पाप पुण्यों के वश में होता है। ये पाप पुण्य ही मनुष्य के सुख और दु:ख, जन्म और मृत्यु के हेतु होते हैं। कर्म को माया अविद्या भी कहते हैं।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं - संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। अनेक जन्मों में किए हुए शुभाशुभ कर्मों के संस्कार, जो अज्ञात-रूप से, निष्क्रिय भाव से मनुष्य के अन्तर में संचित हो रहे हैं, उन्हें संचित कर्म कहते हैं। उस कर्म समूह में से जो कर्म फलित होने लगते हैं, जिसके कारण मनुष्य को नया शरीर धारण कर सुख दु:ख भोगने पड़ते हैं, उनका नाम होता है प्रारब्ध-कर्म। वर्त्तमान जन्म में जो सब नये अच्छे और बुरे कर्म किये जाते हैं उन्हें क्रियामाण कर्म कहा जाता है। सद्गुरु की कृपा होने पर संचित कर्म नष्ट होते हैं। क्रियमाण कर्म भी संचित नहीं होने से नये अदृष्ट की उत्पत्ति नहीं होती। परन्तु प्रारब्ध कर्म भोग के बिना किसी तरह भी नष्ट नहीं होते। इस प्रारब्ध कर्म के सम्बन्ध में ही शास्त्र में कहा गया है-

'' नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।''

भोग बिना कर्म का क्षय नहीं होता, करोड़ों कल्प क्यों न बीत जायें।

अदृष्ट

शिष्य- आपने जो अदृष्ट की बात कही है, वह अदृष्ट क्या है ? उससे जीव में वासना की उत्पत्ति कैसे होती है ?

गुरु - जन्म जन्मान्तरों में किए हुए हमारे कर्मों के संस्कार ही अदृष्ट कहलाते हैं। हम लोगों ने अनेक जन्मों में शुभाशुभ कर्म किये हैं, उन्हीं सब कर्मों के संस्कार हमारे मनों में जमा होते रहते हैं। भले कर्मों से शुभ संस्कारों और बुरे कर्मों से अशुभ संस्कारों की उत्पत्ति होती है। उन संस्कारों को अदृष्ट कहते हैं।

एक उदाहरण लो। कल्पना करो, किसी व्यक्ति ने कभी पर्वत देखा नहीं। उसको किसी ने पर्वत के निकट ले जाकर अंगुली से पर्वत दिखा दिया। पर्वत को दिखाते ही उस व्यक्ति के मन पर पर्वत की छाप पड़ गई। पर्वत की शक्ल उसके मन पर मुद्रित हो गई। वह छाप उसके मन पर हमेशा के लिये रह गयी। अब उसके सामने पर्वत रहे वा न रहे, परन्तु जब ही उसके मन में पर्वत की बात आयेगी, अथवा कोई उसके सामने पर्वत का नाम लेगा तो पर्वत की शकल जो उसके मन में बैठ रही है, उसके द्वारा वह मन ही मन पर्वत के आकार को याद कर पर्वत कैसा होता है यह भलीभांति जान लेगा। यदि वह अन्य किसी पर्वत के निकट जाता है और उसे देखता है, तब उसके मन पर पर्वत की जो छाप पड़ी हुई है, उस छाप के साथ वर्त्तमान पर्वत की आकार-प्रकार में समानता होने से यह भी पर्वत है इस प्रकार का ज्ञान उसे होता है। इसी को कहते हैं संस्कार। उस व्यक्ति के मन में यदि पर्वत की छाप पहिले से नहीं होती, पहिले उसने जो पर्वत देखा था, उसकी छाप यदि उसके मन में नहीं रहती, तो बाद में पर्वत को देखने पर भी यह पर्वत है ऐसा ज्ञान उसे कभी नहीं होता। तो यह जो पर्वत को देखते ही उसकी छाप देखने वाले के मन पर पड़ जाती है और बाद में पर्वत को देखते ही अपने मन में लगी छाप के द्वारा यह पर्वत है यह जाना जा सकता है,

स्मृति से उत्पन्न ऐसी मनोवृत्ति का यह जो गुण है इसी का नाम है संस्कार। संस्कार का ही दूसरा नाम है अदृष्ट। इसी मनोवृत्ति के प्रभाव से ही साधु और पुण्यात्मा लोग जो जो कर्म करते हैं, उनके मन में उन कार्यों की छाप दृढ़रूप से रह जाती है। पापी लोगों के पापकर्मों की छाप वा मुद्रण जो मनुष्य के मन पर अमिट रूप से छपे रहते हैं, उन्हें संस्कार वा अदृष्ट कहते हैं। जब तक मनुष्य का मन नष्ट नहीं होता, तब तक ये संस्कार अथवा अदृष्ट लुप्त नहीं होते। मृत्यु के पश्चात् जब मनुष्य अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों के भोगों को समाप्त कर लेता है, तब अपने मन पर लग रहे संस्कारों से वह नियंत्रित और प्रेरित होता है जिसे अनुशय कहते हैं। उसकी बुद्धि उसके संस्कारों अथवा अदृष्ट के अनुरूप बन जाती है। अनेक जन्मों में मनुष्य ने जीवन भर जो जो कार्य किये होते हैं, जिस प्रकार से ध्यान किया होता है, जैसे विचार किये होते हैं, जिस प्रकार के भावों में डूबकर समय बिताया होता है, उन समस्त भावों और भावनाओं के अनुरूप एक नूतन परिवर्त्तन, एक नयी कामना उसके मन में उदित हो जाती है। इस कामना के अनुसार अब उस मनुष्य को पशु पक्षियों की योनि में अथवा मानुष योनि में जन्म प्राप्त होता है। कोई एक व्यक्ति जीवन भर जो काम करता रहा है, मान लो उसने हिंसा के काम ही अधिक किये हैं। उसने जो सब हिंसा के काम किये हैं, पर-लोक में उनके लिये दण्ड भोगने के पश्चात्, उसके उन हिंसा कार्यों से उत्पादित संस्कारों के प्रभाव से उसे किसी हिंसक योनि में जन्म लेना होगा। क्योंकि, हिंसा के कार्यों में वह इतना अभ्यस्त हो चुका है कि संस्कारों के प्रभाव से विवश होकर उसे अपनी हिंसा वृत्ति को चरितार्थ करना होगा। हिंसा वृत्ति को पूर्ण करने के लिये उसका शरीर ऐसा होना चाहिए जिससे वह हिंसा कार्य आसानी से कर सके। शेर, चीते आदि के शरीर हिंसा वृत्ति के चरितार्थ करने के लिये अनुकूल होते है। वैसा शरीर धारण करने पर इसकी हिंसा वृत्ति आसानी से पूर्ण हो सकती है। ऐसी स्थिति में उसे शेर, चीते आदि का शरीर ही मिलेगा। तब पूर्वकृत कर्मों के संस्कार अथवा अदृष्ट उसके अन्य प्रकार के ज्ञान को विस्मृति के गर्भ में डुबाकर उसके समस्त ज्ञान को व्याघ्रादि पशुओं के अनुरूप ज्ञान में परिणत कर देंगे। तब उसकी भावना होगी कि मैं व्याघ्र वा वैसा ही

कोई पशु हूँ। दूसरी बात यह है कि मृत्यु के समय मनुष्य के मन में जैसी भावना का उदय होता है मृत्यु के पश्चात् उसे वैसा ही देह प्राप्त होता है। मरणकाल के चिन्तन से तन्मय हुआ जीव विवश होकर चिन्तन के अनुरूप ही नया शरीर प्राप्त करता है। पद्मपुराण में जो धर्मशर्मा को पक्षी देह की प्राप्ति और भागवत में भरत की मृग शरीर पाने की कथा है वह मृत्युकाल में पक्षी और मृग सम्बन्धी चिन्ता के कारण ही हुई थी।

मरते हुए व्यक्ति की चिन्तनधारा को भगवान् की ओर कराने के लिये ही मरण समय में हरिनाम सुनाने की प्रथा हमारे देश में प्रचलित है। शास्त्रों में कहा है -

मरणे या मतिः सा गतिः।

मरणकाल में जैसी बुद्धि अथवा चिन्तनधारा होती है, वैसी ही गति अर्थात् आगामी जन्म हो जाता है।

इसी प्रकार भावना अथवा चिन्ता करने के समय उस व्यक्ति का सूक्ष्म देह उसकी भावना वा चिन्ता के अनुरूप बदल कर एक नया शरीर प्राप्त करता है। शास्त्र में ऐसे देह को भावनामय देह कहते हैं। कर्म जनित संस्कारों के कारण जीव के मन में जिस प्रकार की भावना उदित होती है, उसका सूक्ष्म शरीर एक भावनामय देह में परिणत हो जाता है। जिस योनि में उसे आगे जन्म लेना होता है; यह भावनामय देह उस योनि की प्राप्ति के अनुकूल होता है। जिसे व्याघ्र का देह पाना है, उसके सूक्ष्म देह में परिवर्तन के पश्चात् जो भावनामय देह उत्पन्न होगा, वह व्याघ्र के शरीर के अनुरूप ही होगा। उसका वह भावनामय देह व्याघ्र के शुक्रशोणित के मेल से व्याघ्र होकर जन्म ग्रहण करेगा। यह एक उदाहरण दिया गया है। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि योनियों में जन्म होने के सम्बन्ध में यही नियम है। जीव की इस प्रकार की भावना अथवा चिन्ता जिसके द्वारा वह जीव भिन्न-भिन्न योनियों में जन्मग्रहण करता है, उसी को वासना कहते हैं। अदृष्ट अथवा जीव के संस्कारों से इस वासना की उत्पत्ति होती है इस विचार से अदृष्ट को वासनाओं का उत्पादक कहा गया है।

मन

शिष्य - आपने कहा है कि जब तक मन नष्ट नहीं होता, अदृष्ट नष्ट नहीं होता है ? आत्मा और मन क्या दो वस्तु हैं ?

गुरु - हाँ, मन नष्ट हो जाता है और मन और आत्मा भिन्न पदार्थ हैं। हमारे अन्तः करण की जो वृत्ति संकल्प और विकल्प रूप की है, उसे मन कहा जाता है। सर्वदा ही हमारे अन्तर में किसी न किसी विषय का संकल्प उठता रहता है। अन्त: करण में जिस वृत्ति से संकल्प-विकल्पों का उदय होता है, उसी का नाम है - मन। हम लोगों के सुख और दुःख आदि जो जो अनुभव हैं वे मन से उत्पन्न होते हैं। मन हमारे आत्मा की एक उपाधि - बंधन - है। तप के बल से जब कोई मनुष्य मुक्ति पा लेता है, तब उसकी अवस्था उपाधि रहित होती है, और उस काल में उसकी संकल्प-विकल्प रूपी वृत्ति अर्थात मन नष्ट हो जाता है। मन नष्ट होने पर उसके अन्तर में कोई संकल्प-विकल्प नहीं रहता परन्तु आत्मा तब भी विद्यमान रहता है। कारण आत्मा नित्य है - अविनाशी है। मन के अतिरिक्त अन्तःकरण की अन्य तीन वृत्तियां है- बुद्धि, चित्त और अंहकार। जिस वृत्ति से समस्त पदार्थों का निश्चयात्मक ज्ञान होता है, उस निश्चयात्मक वृत्ति को बुद्धि कहते हैं। अन्त: कारण की जिस वृत्ति द्वारा समस्त विषयों का स्मरण होता है, जिसके द्वारा अनुसंधान और ज्ञान प्राप्त करने की प्रवृत्ति होती है उस स्मरणरूपी अनुसंधानरूपी वृत्ति को चित्त कहते हैं। जिस वृत्ति द्वारा किसी पदार्थ अथवा व्यक्ति पर ममता-बुद्धि उत्पन्न होती है, उसे अहंकार कहा जाता है।

जन्म कैसै होता है ?

शिष्य - जीव कैसै उत्पन्न होता है ?

गुरु - जीव मृत्यु के अनन्तर परलोक में जाकर भिन्न-भिन्न लोकों में अपने किये पाप पुण्यों के फल भोगने के पश्चात् अदृष्ट के द्वारा अपनी वासनाओं के अनुरूप शरीर धारण करता है। पहिले तुम्हें जो भावनामय देह की बात कही है, पाप और पुण्यों के फल भोगने के बाद, जीव उसी भावनामयदेह को लेकर आकाश, वायु, मेघ, विद्युत् आदि अनेक स्थानों

में भ्रमणकर, अन्त में जल के साथ मिलकर पृथ्वी पर आता है। इसके अनन्तर पृथ्वी के रस में घुलमिल कर अन्नादि में प्रवेश करता है। तदनन्तर खाद्यपदार्थ के साथ मनुष्य अथवा अन्य जीवों के शरीर में प्रवेश करता है। फिर खाद्यप्रदार्थ के परिवर्तन रूप, रस रक्तादि धातुओं में से होता हुआ शुक्र धातु में स्थित होता है। अन्त में मैथुन के समय शुक्र द्वारा स्त्री के शोणित में मिश्रित होकर जन्म ग्रहण करता है। खाद्यपदार्थों में मिलकर जीव जब किसी शरीर में प्रवेश करता है। तब उसी शरीर के अनुरूप उसके नये संस्कार हो जाते हैं। जो आत्मा पहिले मनुष्य शरीर में था, कर्मजन्य अदृष्ट के प्ररेणा से वही आत्मा अब यदि बन्दर के शरीर में प्रवेश करता है तो प्रवेश करते ही उसके मानव सम्बन्धी संस्कार दब जाते हैं और बन्दर के शरीर सम्बन्धी संस्कारों का उदय हो जाता है। अतः जन्म होते ही उसके सब काम बन्दर जैसे होने लगते हैं।

स्त्री पुरुषों के संगम के समय स्त्री के गर्भ में जो पुरुष का शुक्र प्रवेश करता है, वही शुक्र स्त्री के जरायुगत शोणित में मिश्रित हो जाने से धीरे-धीरे जीव के शरीर में गठित होता है।

''पितुरेतोऽतिरेकात् पुरुषो मातुः रेतोऽतिरेकात्स्त्रियो भवन्त्युभयोर्बीज तुल्यत्वान्नपुंसको भवति। व्याकुलितमनसोरन्धाः खञ्जाः कुब्जा वामना भवन्ति। अन्योग्यवायुपरिपीड़ितशुक्रद्वैविध्याद्द्विधा तनुः स्यात्ततो युग्माः प्रजायन्ते।''

गर्भोपनिषद्।

पिता का शुक्र अधिक होने पर पुत्र, माता का रेत अधिक हो तो कन्या और दोनों के वीर्य की मात्रा समान होने पर नपुंसक उत्पन्न होता है। दोनों स्त्री पुरुषों के मन व्याकुल हों तो आधे अंग विहीन, कुब्ज अथवा वामन संतान की उत्पत्ति होती है। वायु द्वारा यदि दोनों के रेत दो भोगों में विभक्त हो जायें तो यमल सन्तान उत्पन्न होते हैं।

''मातृरक्तोत्तरा नारी पितुः शुक्रोत्तरो नरः।
उभयो वीर्यसामान्ये जायते वै नपुंसकः ॥''

''रक्ताधिक्ये मातृरूपं रेतोऽधिक्ये तु पैतृकम्।
शुक्र-शोणित-संघाते वयुना च द्विधा कृते यमौ स्याताम् ॥''

गर्भ में यदि स्त्री का रक्त अधिक हो तो कन्या और शुक्र की अधिकता हो तो पुत्र उत्पन्न होता है। वायु द्वारा शुक्र यदि दो भोगों में बँट जाये तो यमल उत्पन्न होते हैं।

वेदान्त दर्शन में यह विषय विशेषकर स्पष्ट किया गया है। यदि अच्छी तरह जानना चाहो तो वेदान्त दर्शन के तीसरे अध्याय के प्रथम पाठ को पढ़ कर देख लो। अनेक स्थानों में जो संतानों के स्वभावों में विलक्षणता पायी जाती है, वह स्त्री पुरुषों के संगमकालीन दोषों से उत्पन्न होती है। कहीं कहीं ऐसा देखा जाता है कि बालक का स्वभाव बालिका जैसा, और बालिका का बालक के समान है। इसका कारण है संगम काल में स्त्री पुरुषों के भावों में परस्पर विनिमय। उस काल में स्त्री ने पुरुष जैसा अनुकरण किया होगा और पुरुष ने स्त्री के समान। दोनों के शरीर भी व्यतिक्रम अवस्था में होगे। ऐसी स्थिति में जो संतानें उत्पन्न होती हैं, उनके स्वभाव भी विपरीत होते हैं, पुत्र कन्या के स्वभाव का, और कन्या पुत्र के स्वभाव का। अतएव हमारे शास्त्रकारों ने यह व्यवस्था दी है कि संगम काल में अति सावधान रहना चाहिये। यही नहीं उस काल में उठते-बैठते चलते-फिरते माता पिता के मन में जिस प्रकार के भाव होते हैं, अनेक स्थलों में संतानें उन भावों को प्राप्त कर लेती हैं। गर्भ में आने के समय जीव जिन प्रबल संस्कारों द्वारा प्रेरित होता है, यदि वे संस्कार माता-पिता के दैनिक जीवन के भावों तथा संस्कारों के अनुरूप हों, तो जीव के संस्कारों को पुष्टि मिलती है। संगम काल में भी यदि माता-पिता के मन सात्विक हों तो गर्भ में प्रविष्ट हुए जीव के संस्कार निकृष्ट कोटि के होने पर भी, कुछ न कुछ सत्व गुण उनमें संक्रमित हो जाते हैं, और जीव के भावी जीवन को सदाचरण की ओर प्रेरित करने में सहायता कर सकते हैं। इस लिये संगम से पूर्व संयम के साथ देव पूजा आदि करने से माता पिता के मन में यदि धर्मभाव जागृत हो, सत्व गुण का उदय हो, तो ऐसी अवस्था में भावी सन्तान धार्मिक और सात्विक होगी। यदि इससे विपरीत किया जायेगा तो विपरीत भावों से सम्पन्न सन्तान की उत्पत्ति होगी। अतः यह परम कर्तव्य है कि संगम

काल में खूब सावधानी की जाये। एक ही माता पिता के सन्तान जो विभिन्न प्रकृति के होते हैं, उसका मुख्य हेतु है माता पिता के तात्कालीन साधारण जीवन में मन की विभिन्न अवस्थायें। दुराचारी स्त्री पुरुष केवल कामान्ध होकर संगम करते हैं, अतः उनसे उत्पन्न सन्तान प्रायः अत्यन्त कामुक होती है। इस विषय का विस्तृत विवरण आयुर्वेदशास्त्र में दिया हुआ है।

पाप-पुण्य के फल भोग के अनन्तर जीव आकाश, वायु, मेघ, विद्युत् आदि में घूमता हुआ अन्न फलादि में घुल-मिलकर अन्त में शुक्र में स्थित होता है। अनन्तर शोणित के मेलसे जीव का जन्म होता है। वेदशास्त्रों का यही मत है। चार्वाक आदि नास्तिक जो देह को ही आत्मा कहते हैं, वे इस मत को नहीं मानते। उनका कथन है कि चैतन्य नामक कोई पदार्थ अथवा जीव नाम की कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं। अतः वह न तो कहीं से आती है, न कहीं जाती है। गर्भगत शुक्र और शोणित में उदर के ताप द्वारा परिपाक होता है, अनन्तर धीरे-धीरे हस्त -पद आदि अंग प्रत्यंग प्रकट होते हैं और चैतन्य नाम का एक नया पदार्थ उत्पन्न हो जाता है। यह चैतन्य पदार्थ परिपाक का ही गुण है, जैसे गुड़ और तण्डुलादि वस्तुओं के दीर्घ कालीन परिपाक से उनके रस में मादकता उत्पन्न हो जाती है।

वेद शास्त्रों के मानने वाले इस मत का प्रतिवाद करते हैं। उनका कथन है कि गुण जो व्यष्टि अर्थात प्रत्येक वस्तु में विद्यमान नहीं, समष्टि अर्थात वस्तु समुदाय में उसकी स्थिति असम्भव है। सुरा के उपादानभूत गुड़ तण्डुलादि में मादक गुण का यदि अत्यन्त अभाव हो, तो उन से उत्पन्न सुरा में मादक गुण की उत्पत्ति सम्भव नहीं, कारण जिस पदार्थ का व्यष्टि में अत्यन्त अभाव है, वह समष्टि में किसी तरह उत्पन्न हो नहीं सकता। यह स्वतः सिद्ध सत्य है। सुरा के उपादानभूत गुड़-तण्डुलादि पदार्थो में मादक गुण रहता है, चाहे अतीव अल्प मात्रा में ही रहे। रसायनिक क्रिया द्वारा सुरा में उसी सूक्ष्म मादक गुण की अभिव्यक्ति- मात्र होती है।

जिन उपादानों से जीव की देह गठित होती है, उनमें से किसी में भी चैतन्य पदार्थ विद्यमान नहीं। हजारों चेष्टाओं और परीक्षणों से भी

उनमें से चैतन्य पदार्थ अलग नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि व्यष्टि में चैतन्य पदार्थ का अत्यन्ताभाव होने पर समष्टि वा समुदाय में उसकी विद्यमानता अथवा प्रकाश किसी रीति से नहीं हो सकता।

और भी। गर्भ में मिले हुए शुक्र -शोणित में यदि तत्काल ही चैतन्यमय जीव का सक्रमंण नहीं हो, चैतन्य पदार्थ यदि उसमें प्रवेश नहीं करे, तो वह शुक्र शोणित विकृत हो जाता है, अथवा मल-मूत्र की तरह गर्भच्युत हो जाता है। चैतन्यमय जीव का प्रवेश होने के कारण से ही उनमें कोई परिपाक अथवा विकार उत्पन्न नहीं होता। और भी बात है, यदि चैतन्य देहोत्पादक रेतः और रक्त का ही गुण होता तो प्रति ऋतु में गर्भसंचार और सन्तानोत्पत्ति हो जाती। तब तो पुरुष जब ही ऋतुमती स्त्री से संगम द्वारा वीर्य-आधान करता, तब ही स्त्री गर्भवती हो जाती। परन्तु ऐसा होता क्यों नहीं ? इसी से यह सिद्ध है कि जब जब पुरुष के शुक्र में चैतन्य जीवात्मा का अधिष्ठान होता है तब ही गर्भ में जीव का संचार होने से सन्तान की उत्पत्ति होती है। जिस समय शुक्र में जीवात्मा का प्रवेश नहीं होता उस बार के संगम में गर्भ स्थित नहीं होता। अब गर्भ में स्थित जीव की देह जैसे धीरे-धीरे गठित होती है और बढती है वह तुम्हें बताते हैं।

प्रथम मास के गर्भ को कलल कहते हैं। यह कलल सधारण शुक्र शोणित की अपेक्षा कुछ घना होता है। दूसरे मास के गर्भ का नाम है अर्बुद। कुछ कठिन मांसपिण्ड को अर्बुद कहा जाता है। यह पुरुष, स्त्री और नपुँसक भेद से कुछ विभिन्नता लिये होता है। तृतीय मास में हाथ पैर और सिर के सूक्ष्मचिह्न प्रकाश में आ जाते हैं। चौथे महिने में हाथ पैर आदि स्पष्ट हो जाते हैं, और अन्तःकरण की उत्पत्ति भी हो जाती है। अतएव चतुर्थ मास में भ्रूण का चलने फिरने का अनुभव होने लगता है। पाँचवें महीने में मन में अनुभवशक्ति का संचार होता है। ज्ञानवहा नाड़ियों की रचना होती है। छठे महीने में अस्थि, स्नायु, नख, रोमादि उत्पन्न होते हैं। सप्तम मास में अंग-प्रत्यंगों का निर्माण पूरा हो जाता है। अष्टम मास में स्पर्श और श्रवण की ज्ञापकवक् और श्रवणेन्द्रियों की उत्पत्ति हो जाती है। स्मरण शक्ति प्रबल होती है। तेजः धातु पैदा होती है। तेजः धातु पीले रंग का चमकदार और लाला के तुल्य पतला होता है। यह हृदय में रहता है।

''हृदि तिष्ठति यत् शुद्धमीषदुष्णं सुपीतकम्।
तेजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्नाशमृच्छति॥''

जो कुछ उष्ण पीले रंग का उज्ज्वल पदार्थ हृदय में रहता है उसे तेजः कहते हैं। उसके नाश होने से मनुष्य की मृत्यु होती है। तेजः पदार्थ जब नष्ट हो जाता है तभी जीव मृत हो जाता है। नवम और दशम मास में अंग प्रत्यंग पुष्ट हो जाते हैं। इसके अनन्तर धनुष से निकले हुए बाण की भांति प्रबल प्रसव वायु से प्रेरित हो कर गर्भ भूमि पर आ गिरता है। प्रसव काल की चरम अवधि है - बारह वर्ष।

योगशास्त्र में योगी जनों का कथन है कि गर्भस्थ जीव में जब मन उत्पन्न होता है उसके बाद जब तक वह भूमिष्ट नहीं होता उसे पूर्व जन्मों की स्मृति और गर्भवास की कठोर यंत्रणा का अनुभव होने लगता है। परन्तु जैसे ही वह भूमिष्ठ होता है बाहर की वायु लगते ही सब भूल जाता है। बाहर की वायु जीव की गर्भ में उत्पन्न पूर्व जन्मों की स्मृति को भुला देती है।

''अथ नवमे मासि सर्वलक्षणज्ञानकरणसंपूर्णो भवति, पूर्वजाति-स्मृति शुभाशुमं कर्म च वेत्ति।

नाना योनिसहस्त्राणि दृष्ट्वा चैव ततो मया।
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः॥
जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुनः पुनः।
यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम्॥
एकाकी तेन दह्यामि गतास्ते फलभोगिनः।
अहो दुःखोदधौ मग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम्॥
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तंप्रपद्ये महेश्वरम्।
अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम्॥

गर्भोपनिषद्।

अर्थ नवम मास में समस्त शरीर, अन्तःकरण सहित संपूर्ण हो जाता है और पूर्व जन्मों के भले बुरे कमों की स्मृति मन में उदय होती

है। मैंने नाना प्रकार के अन्न खाये हैं, अनेक प्रकार के स्तन पिये हैं, बारबार जन्म-मृत्यु भोगी है, बन्धुओं के हेतु अनेक भले-बुरे कर्म करता रहा हूं। अब उन सब का फल मुझे ही भोगना पड़ा है। यदि एक इस योनि से मुक्ति हो जाए तो पापनाशक मुक्तिदाता परमेश्वर की शरण में अवश्य पडूंगा।

'अथ योनिद्वारसंप्राप्तो यन्त्रेणापीड्यमानो महता दुःखेन, जातमात्रस्तु वैष्णवेन वायुना संस्पृष्टस्तदा न स्मरति जन्म मरणानि न च कर्म शुभाशुभं वेत्ति।

योनि से बाहिर होते ही वैष्णव (प्रसव) वायु उसकी स्मृति को भुला देती है।

मैंने तुम्हे संक्षेप में जीव के जन्म का विवरण कह दिया है। आयुर्वेद में शरीरस्थान अध्याय को पढ़ने से इसका विशेष वृतान्त जान सकते हो। अब आगे तुम्हारी क्या जिज्ञासा है ?

पुनर्जन्म

शिष्य-पुनर्जन्म होता है कि नहीं ?

गुरु- पुनर्जन्म अवश्यमेव होता है। हमारे शास्त्रकारों ने पुनर्जन्म को माना है। गीता में कहा हैः-

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

अध्याय 2 शलोक 22

जैसे मनुष्य फटे हुए वस्त्रों को छोड़ कर नये वस्त्र पहिन लेता है, उसी तरह जीव जीर्ण शरीर को छोड़ कर नये शरीरों को प्राप्त होता है।

''जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु र्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

अध्याय 2 श्लोक 27॥

उत्पन्न हुए व्यक्ति की मृत्यु निश्चित है और मृत व्यक्ति का जन्म भी निश्चित है। इसलिये इस विषय में जो किसी प्रकार टाला नहीं जा सकता, उसके लिए शोक करना उचित नहीं।

जीवात्मा वृक्षलता, कीटपतंग, पशुपक्षी और मनुष्य होकर बार बार जन्मग्रहण करता है। नीच योनि से उच्चतर योनियों में जाते जाते सब मिला कर जीव चौरासी लाख योनियों में जन्मग्रहण करता है। उनमें कितने जन्मों में वृक्षलता, कितने जन्मों में कीटादि, कितने जन्मों में पतंग, कितने जन्मों में पशु, कितने जन्मों में पक्षी एवं कितने जन्मों में मनुष्य होकर उत्पन्न होता है, यह शास्त्र में लिखा है। जीव अनेक शरीर ग्रहण करता है यह बताने के लिये ही भगवान् ने गीता में 'शरीराणि' यह बहुवचन पद दिया है। वेद से लगा कर स्मृति, पुराण, तन्त्र आदि हमारे सब शास्त्रों में जीव बार बार जन्म ग्रहण करता है, यह कहा है। मनु स्मृति के द्वादश अध्याय में भगवान् मनु ने विस्तार पूर्वक यह लिखा है कि किस प्रकार का कर्म करने से कौन सी योनि मिलती है?

मृत मनुष्य के परलोक जाने के लिये दो मार्ग हैं। एक का नाम है देवयान व दूसरे का पितृयान। जो सद्गुरु की कृपा पाकर ब्रह्म की उपासना से मुक्ति पा लेते हैं वे देवयान मार्ग से परलोक को जाते हैं। उनको फिर जन्मग्रहण नहीं करना होता। कौषीतकी उपनिषद् में पाठ हैः-

''स एतं देवयानं पन्थानमापद्य अग्निलोकमागच्छति, स वायुलोकं, स वरुणलोकं, स आदित्यलोकं, स इन्द्रलोकं, स प्रजापतिलोकं, स ब्रह्मलोकं्।''

वह जीव इस देवयान मार्ग में आकर अग्निलोक में आता है फिर वह वायुलोक, वरुणलोक, आदित्यलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक और अन्त में ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है।

इसी प्रकार छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों में भी देवयान पथ का उल्लेख है। इस देवयान पथ को ब्रह्मा पथ और अर्चिमार्ग भी कहते हैं। दूसरा मार्ग है पितृयान। जो प्रवृत्ति मार्ग में सकाम रीति से

कर्मकाण्ड की क्रियायें करते हैं, वे पितृ - यान मार्ग से प्रलोक में जाकर अपने कर्मो के फल भोगते हैं। भोग के अन्त में उन्हें अपने कर्मो के अनुसार शरीर धारण करना होता है। शुभ कर्मो के करने वाले उत्तम और अशुभ कर्म कर्ता निकृष्ट देह प्राप्त करते हैं।

छान्दोग्य उपनिषत् में पाठ है-

''तस्मिन् यावत् संपातमुषित्वाऽथैतमध्वानं पुनर्निवर्तन्ते। यथैतमाकाशमाकाशाद् वायुं, वायु र्भूत्वा धूमो भवति, धुमो भूत्वाऽभ्रं भवति। अभ्रं भुत्वा मेघा भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति, त इह ब्रीहियवा औषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते, अतो वै खलु दुनिष्पपतरम् यो यो ह्यन्न मति यो रेत: सिञ्चति तद्भूय एव भवति।''

छान्दोग्य 5।10।5-6

जब तक पुण्यों का क्षय नहीं होता तब तक पुण्य कर्म करने वाले जीवों को चन्द्रलोक में रहकर, जिस मार्ग से वे परलोक में पहुँचते हैं उसी मार्ग से लौट कर पुन: जन्मग्रहण करना होता है। वे लोग पहिले आकाश में आते है, आकाश से वायु में, पश्चात् धुम्र होकर वाष्प का रुप धारण करते हैं। तदनन्तर मेघ के रुप में वृष्टि के साथ पृथ्वी पर गिरकर, धान, जौ, औषधि व वनस्पति, तिल, माष इत्यादि में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार उस जीवात्मा का महान् पतन होता है। इन सब पदार्थों को खाने से जो वीर्य बनता है, जीव उस वीर्य में प्रविष्ट होता है। अन्त में जब वह जीव स्त्रीगर्भ में प्रविष्ट होता है, तब जीव का नवीन देह गठित होता है।

''तद य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनि मापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्यवोनिं वाऽथ, य इह कपूय-चरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकर योनिं वा चाण्डाल योनिं वा।'' छान्दोग्य उप 5।10।7

जो लोग रमणीय कार्यो को करते हैं, वे रमणीय अर्थात् आनन्दयुक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य योनि को पाते हैं और जो लोग बुरे काम करते हैं, वे कुत्ते, सुअर, चाण्डाल आदि निकृष्ट योनियों को प्राप्त होते हैं।

जो जीव कोई धर्मकार्य नहीं करते, पाप कर्मों को करते-करते ही जीवन व्यतीत करते हैं, वे इन दोनों में से किसी मार्ग द्वारा नहीं जा पाते। वे लोग मृत्यु के पश्चात् यम के शासन से नरक भोगते है, और अन्त में कीड़े, मच्छर आदि निकृष्ट योनियों में जन्मते हैं। इस प्रकार से बार बार निकृष्ट योनियों में जन्म तथा मृत्यु के द्वारा उन्हे दु:ख भोगना पड़ता है। शास्त्र इस प्रकार पापियों की दुर्गति दर्शाकर समस्त जीवों को धर्म में प्रवृत्त होने का उपदेश देता है।

''अथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटा: पतंगा यदिदं दन्दशूकम्।'' वृहदारण्यक उप. 6।2।16

और जो जीव इन देवयान और पितृयानों को नहीं जानते (अर्थात वहाँ नहीं जाते) वे कीड़े पतंग और डसने वाले बिच्छू आदि बनते हैं। अथैतयो: पथो र्न कतरेण च तानीमानि क्षुद्रान्यसकृदा-बर्त्तीनि भूतानि भवन्ति, जायस्व म्रियस्वेति।

वृहदारण्यक उप. 6।2।16

और जो इन दोनों मार्गों में से किसी में भी नहीं जाते, वे बार-बार जन्म मृत्यु पाने वाले क्षुद्र जीव होते हैं जिन्हें - जायस्व म्रियस्व - जन्मो और मरो ऐसा कहा जाता है।

शिष्य- यदि ऐसी बात है जो आजकल के विद्वान पुनर्जन्म को क्यों नहीं मानते ?

गुरु - यह बात नहीं कि सभी पुनर्जन्म को मानते नहीं। अवश्य बहुत से लोग नहीं मानते। इसका कारण यह है कि पाश्चात्य देशों के विद्वान पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करते, इसीलिये हमारे देश के विद्वान् भी नहीं मानते। यूरोप देश के निवासियों के धर्म-ग्रन्थ बाईबल में पुनर्जन्म के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है। ईसाई-धर्म के प्रवर्त्तक महात्मा ईसा ने जीव के जन्मान्तर के विषय में कोई बात नहीं कही। यूरोपीय विद्वान् जो पुनर्जन्म स्वीकार नहीं करते, इसका हेतु एक ही है, और वह है परलोक संबंधी प्रत्यक्ष ज्ञान का अभाव। वे लोग तर्क और युक्ति द्वारा ही परलोकतत्व, आत्मतत्व और परमात्मा के तत्वों को निर्धारित करना चाहते हैं। इन्द्रियाऽतीत विषयों का निर्णय और ज्ञान

केवल चिन्तन द्वारा, तर्क और युक्ति द्वारा करना असम्भव है। इन परमार्थ तत्वों के ज्ञान का एकमात्र उपाय है-तपस्या। यूरोप में तपस्या नाम की कोई वस्तु है नहीं। यूरोपीय उसकी आवश्यकता को भी अनुभव नहीं करते। ऋषियों ने तो तपोबल से लब्ध ज्ञान द्वारा ही अतीन्द्रिय विषयों को जाना था। परलोक तत्व को भी उन्होंने दिव्य ज्ञान द्वारा जाना, फिर प्रत्यक्ष देख कर उन्हें शास्त्रों में लिख गये हैं। मनुष्य साधना की शक्ति से इस स्थूल शरीर को छोड़ कर सूक्ष्म शरीर लेकर बाहर जा सकता है। सूक्ष्म शरीर लेकर स्थूल शरीर से बाहर निकलने की सामर्थ्य जब किसी मनुष्य में एक बार आ जाती है, तब वह सूक्ष्म शरीर में स्थित होकर लोक-लोकान्तरों में जा सकता है। चन्द्र, सूर्य्य, ग्रह नक्षत्र, आदि अदृश्यमान लोकों में और पितृलोक, इन्द्रलोक, आदि अप्रत्यक्षलोकों में वह भ्रमण कर सकता है। हमारे प्राचीन ऋषि मुनि और परवर्ती काल के शङ्कराचार्य, गुरुनानक आदि महापुरुष अपने सूक्ष्म देहों को लेकर स्थूल शरीरों से बाहर निकल कर प्रत्यक्ष ग्रहनक्षत्रादि लोकों में तथा अप्रत्यक्षपितृलोकादि में जा सकते थे। सूक्ष्म देह से सूक्ष्म लोकों में अनायास गमन सम्भव है। सूक्ष्म देह में स्थूल देह सम्बन्धी शीताताप की अनुभूति नहीं होती। इस लिये सूर्य का ताप और वायु का शीत सूक्ष्म देह की गति में कुछ भी प्रतिबन्ध नहीं लगा पाते। यह सूक्ष्म शरीर वायुशून्य स्थान में भी गमन कर सकता है। ऋषिगण एवं परवर्ती महापुरुष इसी उपाय द्वारा लोकलोकान्तरों का विवरण, परलोक का वृत्तान्त और जीव के पुनर्जन्म का वृत्तान्त जान पाये थे।

जब मनुष्य में दिव्य दृष्टि आ जाती है, तब उसके लिये वर्त्तमान और भूतकाल एक हो जाते हैं। इहलोक और परलोक के मध्य में जो परदा है, वह भी दूर हो जाता है, जैसे तुम और मैं अथवा अन्य मनुष्य जिस तरह इस दृश्यमान जगत् को देखते है : जहाँ चाहे, जा सकते हैं जिन महापुरूषों की दिव्य दृष्टि खुल जाती है और जो लोग सूक्ष्म शरीर को लेकर इस स्थूल शरीर से बाहर निकलने में समर्थ हो जाते हैं, वे महानुभाव इस प्रत्यक्ष जगत् के स्थूल पदार्थों की भांति ही उन पदार्थों का दर्शन करते हैं जो हमारी इन्द्रियों से अतीत हैं व

हमारी दृष्टि वा ज्ञान के गोचर में नहीं, और वैसे ही लोकों में गमन कर पाते हैं, तुम्हें मन में मेरी ये बातें शायद असंभव ज्ञात हो रही हैं परन्तु वस्तुत: ये सत्य हैं। तपस्या से ऐसी शक्तियाँ, और ये ही क्यों, अन्य भी अनेक क्षमतायें प्राप्त हो जाती हैं। अष्ट सिद्धियों की बात तो तुमने सुनी होगी। वे भी कुछ तो शक्तियाँ और कुछ सामर्थ्य हैं; साधक को वे भी तपस्या द्वारा प्राप्त हो जाती हैं। यहाँ मैं एक सच्ची घटना का वर्णन करता हूं। परमपूज्य मेरे गुरुदेव श्री श्री विजयकृष्ण गोस्वामी प्रभु पूर्व में अनेक दिन ब्रह्मसमाज में थे पश्चात् जब उन्होंने निश्चय रूप से जान लिया कि ब्रह्मसमाज की प्रचलित उपासनापद्धति द्वारा मुक्ति लाभ अथवा भगवत् प्राप्ति की सम्भावना नहीं, तब वे योग्य गुरु की खोज करने लगे। कुछ दिनों में उन्होंने गुरु को पाकर उनसे दीक्षा ली। दीक्षा लेने के पश्चात् वे गुरु की अनेक बातों में एक मत नहीं हो पाते थे। गुरु की बातों में उन्हें विश्वास नहीं होता था। अनेक बार वे गुरु के साथ तर्क करते। एक दिन अष्टसिद्धियों की प्राप्ति, स्थूल देह से सूक्ष्म देह को लेकर बहिर्गमन, सूक्ष्म शरीर से अन्य के स्थूल देह में प्रवेश करना, ये सब विषय लेकर उनकी चर्चा गुरु के साथ हुई। परन्तु उन्होंने गुरुदेव की बातों में विश्वास नहीं किया। तब उनके गुरुदेव ने कहा- ''तुम मेरे कथन पर विश्वास नहीं करते हो, अपनी आँखों से देखकर भी विश्वास करोगे या नहीं ?'' हमारे गुरुदेव ने उत्तर दिया- ''अपनी आंखों से देखकर कैसे अविश्वास करूँगा ?''तब उनके गुरु ने एक निर्जन स्थान में जाकर सब सिद्धयों की क्रियायें करके दिखाईं। कभी तो वे वायु से भी हल्के होकर पक्षियों की तरह वायु की लहरियो में तैरने लगते, कभी अतीव सूक्ष्म रुप वस्तुओं को भेदकर एक ओर से दूसरी ओर चले जाते। इस प्रकार अष्टसिद्धियों को दर्शाकर उन्होने परकाया प्रवेश भी दिखाया। उस समय वहां एक परित्यक्त मृतपुरुष का शरीर पड़ा था। गुरु ने कहा- 'देखो, मैं इस शव देह में प्रवेश करता हूं।'' यह कहकर वे बैठ गये, कुछ क्षण पश्चात् उनका शरीर चेतना शून्य हो गया और शव देह सचेतन होकर उठ बैठा। अब उनके गुरुजी ने उनकी ओर देखकर कहा-''क्या अब विश्वास हुआ?'' तब गोस्वामी प्रभु ने कहा-''अविश्वास नष्ट करने के लिए आपने क्या कुछ

कसर रक्खी है?'' इसके पश्चात् उनके गुरुजी मृत देह से फिर अपने शरीर में आ गये। गोस्वामी प्रभु के मुख से मैंने यह कथा सुनी है। अब भी तुम्हें विश्वास हुआ या नहीं ?

शिष्य - आपने जो कहा उससे मुझे परम आश्चर्य तो हुआ है परन्तु अविश्वास नहीं। ऐसी अवस्था को प्राप्त करने के लिये मेरे मन में तीव्र आकांक्षा उत्पन्न हो रही है।

गुरु -इसी समय तुम्हें इस के बारे में सावधान कर देता हूं। यदि तुम में यह शक्ति आ जाये, तुम ऐसी सामर्थ्य प्राप्त कर लो, तो ऐसी स्थिति में तुम उस में आसक्त मत होना। ऐसी शक्तियों को पाकर उनमें आसक्ति होने पर भगवद्भक्ति नहीं मिलती। उस शक्ति का उपयोग करने की ही इच्छा होगी। अद्‌भुत कार्य दिखाकर लोगों में मान पाने की इच्छा बहुत प्रबल होगी। उससे मन में अहंकार और अभिमान का उदय होगा। नतीजा यह होगा कि भगवान् से दूर जा पड़ोगे। शक्ति-लाभ करने पर अनेक विघ्न आ घेरते हैं। अनेक साधक ऐसी स्थित में पड़कर आगे उन्नति नहीं कर पाते। इसी कारण से भक्ति मार्ग के आचार्यों ने इसको भक्ति मार्ग में विघ्नरूप कहा है। एक बात सदा ध्यान में रखना कि धर्म के मार्ग में मान-प्रतिष्ठा के समान अन्य शत्रु नहीं है।

शिष्य - पुनर्जन्म का सिद्धांत क्या विचार विमर्श तथा युक्ति द्वारा ज्ञात नहीं हो सकता? और पूर्व जन्मों की स्मृति क्यों नहीं रहती?

गुरुजी - पुनर्जन्म नहीं मानने पर मानव समाज में व्यक्तिगत परिस्थितियों में जो विषमतायें देखी जाती हैं उनके हेतु की मीमांसा नहीं की जा सकती। इस पृथ्वी पर कोई धनी, कोई दरिद्र, कोई स्वस्थ, कोई रागी, कोई धार्मिक और कोई पापी है, इसका कारण क्या? मानव समाज में जिधर देखो विषमतायें ही दृष्टिगोचर होती हैं। भगवान् के राज्य में ऐसा क्यों ? इसका कारण क्या है? एक तो परिश्रम बिना, कुछ कष्ट भोगे बिना, अनेक प्रकार के स्वादु भोजन खाता है, दूसरा प्रातः से सायं तक परिश्रम कर के, पसीना बहा कर भी पेट भरने योग्य अन्न का जुगाड़ नहीं कर पाता। कोई अपने निरोग

शरीर से स्वास्थ्य के सुख को भोगता है; कोई जीवन भर रोगों की पीड़ा से मरणतुल्य कष्ट भोगता है, कोई उच्च कुल में सदाचारी माता-पिता के घर में उत्पन्न होकर संसार में सब प्रकार के सुख और मान भोग कर धर्म और मुक्ति का अधिकार पाता है, कोई वेश्या के गृह में जन्म पाकर सदाचारी जीवन बिताने की चाह मन में होने पर भी सामाजिक परिस्थिति के कारण सदाचारी होने में अनेकानेक बाधायें पाता है, कोई जन्म से ही अन्धा, कोई मूक, कोई बधिर, कोई कुष्ठ रोगी है। वह जीवित भी मृत-समान अपनी देह को भार-तुल्य वहन करता है। कोई सदाचार से साधु वृति में जीवन व्यतीत करता है, कोई चोरी डकैती कर के, जगत् में अशान्ति फैलाता, अपने जीवन को कलंकित करता है। कोई अत्याचार करता है, कोई अत्याचार के प्रतिरोध में असमर्थ होकर उसे चुपचाप सहन करता है। परम न्यायी परमेश्वर के राज्य में ऐसा क्यों होता है? क्या वह पक्षपाती है? किसी पर अनुग्रह और किसी का निग्रह? किसी को स्नेह की दृष्टि से देखता है और किसी को द्वेष दृष्टि से? ऐसा बिल्कुल नहीं। परमेश्वर में पक्षपात नहीं। तब ऐसा क्यों होता है? संसार में इतनी विषमतायें, इतना ऊँच-नीच क्यों है? इस का एक मात्र कारण है- पूर्व जन्मों के कर्मों के फल। अनेक पूर्व जन्मो में जो पाप-पुण्य कर्म किये हैं उनसे उत्पन्न अदृष्ट ही इन सब विषमताओं और अवस्थागत भेदों के एक मात्र हेतु हैं। इनके अलावा इनका अन्य कोई कारण नहीं, नाही उनके लिए अन्य कोई उत्तर देना संभव है। अन्य प्रकार से उनकी हेतु मीमांसा भी सम्भव नहीं। भगवान् वेदव्यास ने उस विषय की मीमांसा उसी प्रकार से की है। ब्रह्मसूत्र में उन्होंने इस विषय में जो सूत्र रचा है सुनो -

''वैषम्यनैर्घृण्ये न, सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति।' ब्रह्मसूत्रं 2।1। 34

अर्थ - वैषम्यनैर्घृण्ये (विषमता और निर्दयता) न (नहीं हैं) सापेक्ष्यत्वात् (क्योंकि इनमें जीव के कर्म सापेक्ष हेतु हैं) तथा हि (वेद वचन से ही) दर्शयति (दिखाते हैं)।

इस सृष्टि की रचना में विषमता और निर्दयता नहीं है संसार में जो वैषम्य दीखता है उसमें हेतु है, जीव के अपने शुभाशुभ कर्म। वेद में भी यह बात कही है-

''साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापी भवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणी भवति पापः पापेन।'' वृहदारण्यक उप. 4।4।5

भले कर्म करने वाला भला मनुष्य होता है, पाप कर्म करने वाला पापी होता है। पुण्य कर्मो से पुण्यात्मा व पाप कर्मों से पापी होता है।

अब इस के बाद - पूर्वजन्म की स्मृति मन में नहीं रहती, ऐसा क्यों? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मृत्यु और पुनर्जन्मरूपी अति उत्कट अवस्थागत परिवर्तनों से मनुष्य को पूर्वजन्म की स्मृति नहीं रहती। कई बार, कितने ही स्थलों में ऐसा देखा गया कि किसी बड़े उग्र रोग से आरोग्य लाभ करने पर रोगी अपने अतीत जीवन की घटनाओं को भूल जाता है। जब एक उग्र रोग की पीड़ा से ही अतीत की स्मृति जाती रहती है, तब मृत्यु और पुनर्जन्म जैसी महान् परिवर्तनकारी घटनाओं के घटित होने पर पूर्वजन्म की स्मृति यदि लुप्त हो जाय तो कुछ आश्चर्य नहीं। एक और बात है। मनुष्य के पूर्वजन्म की स्मृति मन में रहे, यह भगवान् की इच्छा नहीं। पूर्वजन्मों की बात स्मरण रहने पर संसार में बहुत गड़बड़, बड़ी विश्रृंखलता हो जाएगी। कल्पना करो, किसी व्यक्ति के पूर्वजन्म के स्त्री पुत्र सभी जीवित हैं। पुनः जन्मग्रहण के पश्चात् यदि उन सब स्त्री पुत्रों की स्मृति उसके मन में रहे, तो ऐसा होने पर उन लोगों के साथ मिलने की इच्छा स्वभावतः उसके मन में उदित होगी। परन्तु तब उनके साथ मिलने की कोई संभावना नहीं होगी। क्योंकि पूर्वजन्म के स्त्री पुत्रों के साथ तो अब उसका कोई सम्बन्ध नहीं। एक मनुष्य पूर्वजन्म में राजा था अथवा धनी मनुष्य था, परन्तु कर्मों के कारण दूसरे जन्म में उसने दरिद्र होकर जन्म लिया। वह पूर्वजन्म में राजा अथवा धनवान था, वह ज्ञान यदि उसके मन में रहे, तो उसे बहुत ही दुःख होगा। ऐसी स्थिति में उन लोगों को कष्ट और असुविधा के सिवाय और कुछ नहीं मिलेगा। पूर्वजन्म की स्मृति रहने पर संसार में सुख के स्थान में क्लेश, शांति के स्थान में निबिड़ अशांति और गड़बड़ एवं सुख-सुविधा के स्थान पर ऐसी असुविधायें होंगी जिसका अन्त नहीं होगा। इसी लिये परमेश्वर ने ही पूर्वजन्मविस्मृति की व्यवस्था की है।

फिर भी ऐसा होता है कि सच्चरित्र महापुरुषों को पूर्वजन्मों की स्मृति हो जाती है। तपस्या के द्वारा, साधना के द्वारा भी मनुष्य पूर्वजन्म का विषय जान पाता है। ऐसे व्यक्ति हमने देखे हैं जिन्होंने अपनी तपस्या के बल से पूर्वजन्म के समस्त वृत्तान्त जान लिये थे। पूर्वजन्म की पूर्व स्मृति उनके मन में उत्पन्न हो गई थी।

पूर्वजन्म में जिन्होंने साधना द्वारा उच्च अवस्था प्राप्त की है, उनमें से किसी किसी के मन में भी पूर्वजन्म की बात याद रहती है। जिन्हें पूर्वजन्म की स्मृति रहती है, उन्हें ''जातिस्मर'' कहते हैं। परन्तु ऐसे व्यक्ति बिरले ही होते हैं। दुर्योधन की माता गाँधारी को अपने पूर्व के एकशत जन्मों का पूरा विवरण स्मृति में था।

श्राद्ध

शिष्य- शास्त्र में परलोकगत व्यक्ति के उद्देश्य से श्राद्ध करने की व्यवस्था है। श्राद्ध करने से मृत मनुष्य का क्या उपकार होता है? नहीं करें तो क्या कुछ हानि होती है?

गुरु - परलोकगत मनुष्यों के उद्देश्य से श्राद्ध-तर्पण नहीं करने से, जल और पिण्ड नहीं देने से, उन लोगों को असीम दुःख होता है। इससे पूर्व तुम्हें बताया है कि मरने पर स्थूल देह पृथ्वी पर पड़ी रह जाती है, सूक्ष्म देह परलोक को जाता है। यमदूत मनुष्य के सूक्ष्म देह को यमलोक ले जाते हैं। यमलोक का ही दूसरा नाम है पितृलोक। सूक्ष्म शरीर धारी जीव जब यमलोक में बारह दिन-मनुष्यों के एक वर्ष का समय-व्यतीत कर लेता है, तब उसके पश्चात् पृथ्वी में उसने जो पाप पुण्य किये होते हैं, उनका विचार किया जाता है। धर्मराज परलोकगत जीव के पाप-पुण्यों के अनुसार उसको नरक और स्वर्ग भोगने की आज्ञा देते हैं। पहिले तुम्हें बताया है कि जीव का सूक्ष्म शरीर जड़मय है। सूक्ष्म जड़-भूतों से वह गठित है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पञ्चभूतों के सूक्ष्म अंशों द्वारा सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है। जब तक मनुष्य माया के क्षेत्र में रहता है, वासनाओं के वश में रहता है, जड़मय बना रहता है, तब तक उसकी भूख और प्यास भी रहती है और वह सर्दी-गर्मी से दुःख पाता है।

स्थूल शरीर में रहते हुए जैसे क्षुधा-तृष्णा, शीतातप से दु:ख अनुभूत होते हैं और उन्हे निवारण करने के लिये स्थूल अन्न-जल तथा वस्त्रादि की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार सूक्ष्म एवं कारण शरीरों में भी भूख-प्यास और सर्दी-गर्मी के कष्टों की अनुभूति होती है तथा उनके निवारणार्थ सूक्ष्म अन्न, जल तथा वस्त्रादि की आवश्यकता होती है। सूक्ष्म जड़भूतों के मेल से सूक्ष्म शरीर गठित होता है, अत: सूक्ष्म देह की भूख-प्यास और सर्दी मिटाने के लिये सूक्ष्म अन्न वस्त्र ही चाहिये। जीव के स्थूल शरीर में जैसे सूक्ष्म अंग हैं जिन्हें हम सूक्ष्म शरीर कहते हैं, वैसे ही प्रत्येक स्थूल पदार्थ में उसका एक अंग अथवा अंश होता है। अन्न, जल वस्त्रादि सब पदार्थों मे सूक्ष्म अंश होते हैं। अन्न, जल आदि पदार्थों के सूक्ष्म अंशों द्वारा सूक्ष्म शरीर की क्षुधा-तृष्णा निवारण की जाती है। वस्त्रों के सूक्ष्म अंशों द्वारा शीत का निवारण होता है। इसी प्रकार छत्र, चामर, जूता, पंखा आदि पदार्थों के सूक्ष्मांशों द्वारा परलोक वासी जीव के सूक्ष्म शरीर को सुविधा और सुख दिया जाता है। ये सब बातें तुम्हे अफीमचियों जैसी प्रतीत होंगीं। परन्तु ये सब वस्तुत:सत्य हैं। परलोक की घटनायें हमारी इन्द्रियों के गोचर में नहीं। अत: वे युक्ति-तर्क द्वारा समझायी नहीं जा सकती। परन्तु परलोक में जीव को ये सब दु:ख वास्तव में होते हैं। पदार्थों के सूक्ष्माँशों द्वारा उन क्लेशों की निवृति भी वास्तविक है।

श्राद्ध का उद्देश्य है परलोकगत व्यक्तियों के परलोक वास में ऊपर कहे शारीरिक कष्टों को दूरकर उनको संतुष्ट करना। जिससे परलोकगत अपने बंधु किसी प्रकार का दु:ख नहीं पावें, अन्नादि के अभाव से उन्हें कष्ट न हो, वस्त्रादि के अभाव से उन्हे कष्ट नहीं भोगना पड़े, इसी उद्देश्य से श्राद्ध करने की व्यवस्था है। अत: श्राद्ध क्रिया में जो वस्तु दान करने की व्यवस्था शास्त्र में है, पिण्डादि दान करने का जो आदेश है, उसे अवश्य पालन करना चाहये। हमारे परलोकगत माता-पिता एवं अन्य संबंधियों के प्रति यदि हम में कुछ भी ममता है, उनके प्रति कुछ भी कृतज्ञता है, तो उनके पारलौकिक कष्ट दूर करने के लिये, उनके उद्देश्य से तर्पण, पिण्ड़ प्रदान, अन्न वस्त्रादि पदार्थों के दान करने की जो व्यवस्था है, उन पदार्थों को

अवश्य दान करना चाहिये। परलोकगत मृत मनुष्य के पुत्र, पौत्र आदि संबंधी श्राद्ध के दिन में मृत व्यक्ति के उद्देश्य से जो पिण्डदान करते हैं अथवा अन्न पानादि दान में देते हैं, मृत व्यक्ति उन सब पदार्थों के सूक्ष्म अंशों का उपभोग कर अपनी क्षुधा-तृषा तथा अन्य प्रकार के कष्टों का निवारण करता है। पृथ्वी पर परलोकगत व्यक्ति के उद्देश्य से जो पिण्ड तथा अन्न पानादि दिये जाते हैं, उनसे उसकी क्षुधा-तृषा तथा अन्य अभाव दूर होते हैं। मृत व्यक्ति नवीन देह धारण कर श्राद्ध में दिये गये अन्न का भोजन करके ही जीता है। श्राद्धकर्ता प्रतिमास अथवा वर्ष के अन्त में जो श्राद्ध करते हैं, उन्हीं श्राद्धों के अन्न उसे भोजन के रूप में मिलते हैं। मृत व्यक्ति यदि मनुष्य होकर पुन: जन्म लेता है, तो श्राद्ध में दिया अन्न उसे अन्न रूप में, पशुपक्षियों का देह पाने पर उन पशुओं के उपयोगी खाद्य बनकर उनके उपभोग में आता है। जिनकी संतान जिस प्रकार के पदार्थों से श्राद्ध क्रिया करते हैं, मृत्यु के पश्चात् परलोक का देह धारण कर वे उन पदार्थो का ही उपभोग करते हैं। श्राद्ध में दिये हुए अन्न को ही खाकर सब परलोकगत प्राणी जीते हैं। पुत्र पौत्रादि श्राद्ध में जिन पदार्थों द्वारा श्राद्ध करते हैं, वे पदार्थ अन्न पान बन जाते हैं। इस सम्बन्ध में एक सत्य घटना तुम्हें बताता हूं, जिससे इस विषय की सत्यता में पुष्टि होगी।

एक बंगाली ब्राह्मण नवयुवक उत्तर पश्चिम देश में रेलवे स्टेशन मास्टर के पद पर काम करता था। वह बड़ा शराबी और लंपट था। जो कुछ कमाता उसका अधिकांश शराब और वेश्या सेवन में खर्च कर देता। किसी भले काम में अथवा दान पुण्य में एक कौड़ी भी व्यय नहीं करता था। इस प्रकार से कुछ समय बीत गया तो उसे एकाएक एक संघातिक रोग हो गया। धीरे धीरे रोग ने भीषण रूप धारण कर लिया और उसकी मृत्यु हो गयी। लोगों ने जब देखा कि वह मर गया है, तो उसके दाह संस्कार के लिये प्रबंध किया जाने लगा। शव पड़ा था, एक व्यक्ति उसके पास में बैठा था। छोटे शहरों में संस्कार का प्रबन्ध करने में कुछ देरी हो जाती है और वह स्थान बंगाल से बाहर था। उत्तर-पश्चिम प्रान्त में बंगाली बहुत कम रहते है। अत: संस्कार का प्रबन्ध करने में अधिक ही देर हो रही थी। इसी बीच में जो व्यक्ति शव के

निकट बैठा था उसने देखा कि शव की आँखे झपकने लगी हैं। धीरे धीरे शव ने आँखें खोल दीं- बातें करने लगा। समय बीतने पर व पूर्ण निरोग हो जाने पर उसने बताया; जब मेरी मृत्यु हुई तो मैंने देखा कि दो काले रंग के कुरूप मनुष्य जिनके हाथों में एक-एक पाश और दण्ड था, मुझे इस शरीर से बाहर निकल कर आकाश मार्ग से ले चले। कुछ दूर जाने पर मैने एक नदी देखी। उस नदी के पार मैं एक लोक में पहुंच गया। वहाँ वृक्ष, लता-पर्वत आदि सब कुछ हैं। महलों जैसे बड़े बड़े भवन भी वहाँ पर हैं। वहाँ मैने अपने दादा-परदादा आदि पुरूखों को देखा। उन्होंने अपना परिचय देते हुए कहा- 'तुम्हारी मृत्यु हो गई, अब तुम पितृलोक में आ गये हो।'' यमराज को दिखाते हुए उन्होंने कहा-ये पितृलोक के अधिपति यमराज हैं।' मैने यमराज का दर्शन किया। फिर मेरे पुरुखों ने मुझ से पुछा- 'तुम यहाँ रहना चाहते हो अथवा पृथ्वी पर अपने पहिले शरीर में जाने की इच्छा करते हो? तुम्हारी देह पृथ्वी पर अभी भी है। इच्छा हो तो उस शरीर में तुम पुनः जा सकते हो।' तब मैने कहा - 'मैं पृथ्वी पर अपने शरीर में वापिस चला जाऊँगा। इस पर धर्मराज ने उन दूतों को आज्ञा दी कि इसे पृथ्वी पर छोड़ आओ। वे दोनों दूत मुझे अपने साथ पृथ्वी पर लाये और मुझे इस देह में छोड़कर चले गये। पितृलोक से लौटते समय पितृलोक से बाहिर मैंने एक स्त्री और पुरुष को अति दीन दशा में देखा। मैने उनसे पूछा - 'आप कौन हैं? और आप की दुर्दशा का कारण क्या है? उन्होंने कहा ''हम दोनों तुम्हारे माता-पिता हैं। जब हम पृथ्वी पर जीवित थे, तब हमने कुछ दान नहीं दिया। तुमने हमारे निमित्त एक कौड़ी भी दान नहीं की और श्राद्ध-तर्पण आदि कुछ नहीं किया। इसी कारण से हमारी यह दुर्दशा है। मनुष्य पृथ्वी पर जो दान करता है, उसका सूक्ष्म अंश पितृलोक में पहुंच कर उसकी क्षुधा-तृषा निवारण करता है और अन्य दुःखों से रक्षा करता है। यहाँ हमें क्षुधा लगती है, परन्तु क्षुधा निवारण के लिये अन्न नहीं, प्यास है, परन्तु प्यास मिटाने के लिये हमें जल प्राप्त नहीं। सर्दी-गर्मी से अनेक प्रकार के कष्ट हो रहे हैं, परन्तु उनके निवारण के लिये कोई उपाय अथवा वस्तु हमारे पास नहीं। फलतः हम लोग यह दारुण दुर्दशा भोग रहे हैं।

बेटा ! तुम पृथ्वी पर जा रहे हो, हमारी यह दुर्दशा जिससे दूर हो, वैसा उपाय करना। नियमानुसार हमारे लिये श्राद्ध-तर्पण करना, हमारे निमित्त कुछ दान करना और गया में हमारा श्राद्ध करना। गया में विष्णुपद में पिण्ड देने से ही प्राणी की सद्गति होती है।''

तदन्तर वह महाशय अनेक वर्ष तक जीवित रहे। जितना समय जीवित रहे, मद्यपान और वेश्या संग को त्याग कर परम सदाचार के साथ उन्होंने अपना जीवन बिताया और अपनी आय का आधा भाग माता-पिता के उद्देश्य से व्यय करते रहे। यह घटना पूर्णतया सत्य है। उनसे ही सुनी गयी है। कुछ दिन हुए, उनकी मृत्यु हो गयी।

सूक्ष्म देह में भी आहार की आवश्यकता होती है। यह शास्त्रों के पढ़ने पर देवताओं के अमृतरसपान, सोमरसपान इत्यादि विवरणों से ज्ञात होता है। देवों के शरीर सूक्ष्म होते हैं। सूक्ष्म देह धारी देवगण भी खाते पीते हैं, उन्हें भी आहार और पान की आवश्यकता होती है।

श्राद्ध का और भी प्रयोजन है। पितृलोक में ब्राह्मणादि प्रत्येक जाति के लिये एक-एक पितृपुरूष हैं। वे सात हैं, यथा-अग्निष्वात्ताः, वर्हिषदः, सोमपाः, आज्यपाः, सुकालिनः, हविष्मन्तः और ऊष्मपाः। इसमें सोमपाः ब्राह्मणों के, हविष्मन्तः क्षत्रियों के; आज्यपाः वैश्यों के और सुकालिनः शूद्रों के पितृपुरुष हैं। अग्निष्वात्ताः देवताओं के, और वर्हिषदः दैत्य, दानव, यक्ष, गन्धर्व, सर्प, राक्षस, सुपर्ण, किन्नरादियों के पितृपुरुष हैं।

सोमपाः नाम विप्राणां क्षत्रियानां हविर्भुजः।
वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्रानां तु सुकालिनः॥

मनुसंहिता 3।19

ये सब पितृपुरूष समाधि में स्थित होकर प्रत्येक वर्ण का मंगल विधान करते हैं। श्राद्धों में दिये गये जल और पिण्डादि से उनकी तृप्ति होने पर वे अपने वंशों को आशीर्वाद देते हैं। इससे एक संपूर्ण वंश का कल्याण होता है।

मुक्ति

शिष्य - मुक्ति किसे कहते हैं ?

गुरु - मुच् धातु से मुक्ति शब्द बना है। मुच् धातु का अर्थ है किसी का किसी से छुटकारा पाना। किसी प्रकार की उपाधि से, किसी प्रकार के बन्धन से, किसी की पकड़ से छूटने का नाम है-मुक्ति। सत्व, रजः तमः इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति की पकड़ में आकर अविद्या से उपाधियुक्त होकर, माया के बन्धन में बंध कर जीव कर्म के आधीन होता है। कर्म का आदि-अन्त नहीं; भगवान् का, काल का और जीव के कर्मचक्र का भी आदि और अन्त नहीं। जीव इस अनादि कर्मचक्र में पड़कर कुम्हार के चक्के की भांति स्वतः चलता रहता है। भले और बुरे कर्मों (पापों और पुण्यों) के फलस्वरूप सुख-दुःख के वश में होकर जीव कभी नरक, कभी स्वर्ग भोगता है, और फिर अनेक योनियों में जन्म लेता है। इस प्रकार बार-बार जन्म-मरण के वश में रहता है। प्रकृति की इस पकड़ से, अविद्या की उपाधि से, माया के बन्धन से, सुख और दुःख, पाप और पुण्यों के उत्पादक कर्मों के चक्र से बाहिर निकल आना, अपनी रक्षा कर लेना-इसी का नाम है मुक्ति। जीवात्मा स्वभाव से ही शुद्ध अर्थात् निर्लेप, बुद्ध अर्थात् ज्ञानस्वरूप और मुक्त अर्थात् सब प्रकार के बन्धनों से रहित है। सुख दुःख, धर्माधर्म, पाप-पुण्य, संकल्प-विकल्प ये सब जो आत्मा में दिखाई देते है, ये जीवात्मा के स्वाभाविक गुण नहीं। जीवात्मा को प्रकृति की सन्निधि से, माया की सन्निधि से ये गुण प्राप्त हुए हैं।

प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः।
अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्माज्जलार्कवत् ॥
स एष एव यर्हि प्रकृतेर्गुणेष्वभिषज्जते ।
अहंक्रियाविमूढ़ात्मा कर्त्तास्मीत्यभिमन्यते ॥
तेन संसारपदवीमवशोऽभ्येत्यनिर्वृतः ।
प्रासङ्गिकैः कर्मदोषैः सदसन्मिश्रयोनिषु ॥

श्रीमद् भागवत स्कन्ध 3 अध्याय 27 श्लोक1–3

प्रकृति में स्थित होकर भी पुरुष प्रकृति के गुणों से लिप्त नहीं होता क्योंकि पुरुष स्वभाव से विकार रहित है, अकर्त्ता है, गुणों से हीन है जैसे जल में पड़ा सूर्य का प्रतिबिम्ब अलिप्त रहता है। परन्तु जब प्रकृति के गुणों में आसक्त होता है, तब अहंकार से मोहित होकर 'मैं करता हूं' इस प्रकार के अभिमान से युक्त होता है। अतः इस अभिमान से ही उत्पन्न कर्मों के दोष से उत्तम और अधम योनियों में जन्म लेकर उसे संसार चक्र में आना पड़ता है।

ऊपर कहे गुण, जीवात्मा में संक्रान्त होकर, रेशम का कीड़ा जैसे अपने को कोकून में बन्द कर लेता है, वैसे ही जीवात्मा को यद्यपि त्रिगुण बांध लेते हैं, तो भी वे सब सदैव नहीं रहते। तत्त्व-ज्ञान का उदय होने पर, ब्रह्म-ज्ञान का उदय होने पर जीवात्मा की ये सब उपाधियाँ, ये सब बन्धन नष्ट हो जाते हैं। पहिले सृष्टि प्रकरण में जो अहं तत्व की बात कही है, ब्रह्म की जीव शक्ति जब उस अहंकार के अधीन होकर उपाधि युक्त होती है, तब जीव 'मैं और मेरा' इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। जीव में 'मैं-मेरा' ऐसे ज्ञान का उदय होने पर, जीव-मैं धार्मिक हूं, मैं पापी हूं, मैं सुखी, मैं दुखी, मैं धनी, मैं दरिद्र, मैं स्थूल, मैं कृश, मैं स्वस्थ, मैं रोगी हूं, इस प्रकार के अभिमान के वश में हो जाता है। तब वह जीव ''मैं कर्त्ता हूँ'' इस कर्तृत्व की उपाधि से युक्त होकर, किये हुए कर्मो के अधीन होता है। तब अपने कृत कर्मों के संस्कारों के अधीन होकर अदृष्ट से बंध जाता है। जैसे राजा अपराधियों को उनके कर्मों के अनुसार अनेक प्रकार के दण्ड देता है, वैसे ही अदृष्ट उसे नाना प्रकार के सुख-दुःख देता है। तब जीव प्रकृतिजन्य सुख-दुःख से कभी अपने को सुखी और कभी दुःखी मानता है।

प्रकृति की पकड़ में आ जाने पर ''मैं-मेरा' ऐसा अभिमान रूप अहंकार, संकल्परूप मन, निश्चयात्मिका बुद्धि, अनुसंधानात्मक चित्त, इस प्रकार के कारण देह अथवा आनन्दमय कोषों सत्रह अवयवों वाले सूक्ष्म देह, अथवा विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय ये तीनों कोषों, और यह स्थूल देह अथवा अन्नमय कोष इन सब बंधन से जीव बंध जाता है। इन्हीं संस्कारों अथवा बन्धनों से मुक्त होने का नाम है-मुक्ति

''यौगिक क्रियाओं द्वारा जब अन्नमय कोष पर अधिकार पा लिया जाता है, तब इस पृथ्वी की वस्तुओं की ओर मन का आकर्षण नहीं रहता। प्राणमय कोष को वश में करने पर शरीर में काम, क्रोध आदि उत्तेजनायें नहीं रहती। मनोमय कोष पर अधिकार हो जाने पर संकल्प-विकल्प का एकदम विनाश हो जाता है। विज्ञानमय कोष पर अधिकार होने पर संशय नहीं होते। आनन्दमय कोष पर अधिकार होने से पृथ्वीलोक के सुख मन को मोहित नहीं कर पाते'' ये श्रीमान् विजयकृष्ण गोस्वामी महाराज के वचन हैं।

जीव जब मुक्त हो जाता है तब आत्मा का देह के साथ जो बंधन है, वह टूट जाता है। तब जीवात्मा यदि देह में रहे भी तौ शारीरिक सुख और दुःख उस पर प्रभाव नहीं डाल सकते। रोग से उत्पादित शारीरिक दुःख अथवा पीड़ायें उसके लिये बिल्कुल नहीं रहती। उसके मन, चित्त और अहंकार आदि अन्तःकरण की वृत्तियों के कार्य पूर्णरूप से नष्ट हो जाते हैं। तब उनमें धर्माधर्म, पाप-पुण्य, सुख-दुःख कुछ भी नहीं रहते। मैं इसका कर्त्ता हूं, मैं स्थूल हूं, मैं कृश हो रहा हूं, मैं रोगी हूं इस प्रकार के सब अभिमान पूर्णतया लुप्त हो जाते हैं। तब देह में रहता हुआ भी वह देह के धर्मो वा गुणों के अधीन नहीं रहता। किसी तरह से भी अन्तःकरण की वृत्तियों के अधीन वह नहीं रहता। काम-क्रोध आदि जो छःशत्रु हैं, वे स्वयं उसके आधीन हो जाते हैं, उसकी आज्ञाकारिता में रहते हैं। आत्मा की ऐसी मुक्त दशा को, उपाधिरहित अवस्था को ही मुक्ति कहते हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् में मुक्ति की विवेचना इस प्रकार की है–

अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपं संपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते। छान्दोग्य उप0 । 8 ।3 ।4

यह जीवात्मा परम ज्योति ब्रह्म को प्राप्त हो कर अपने स्वरूप को पा लेता है।

भगवान वेदव्यास ने भी इसी वेदवचन के आधार पर सूत्र की रचना की है।

''संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्।'' ब्रह्मसूत्रं 4।4।1

ब्रह्म को प्राप्त होकर जीव अपने स्वरूप को पा लेता है।

अन्यान्य दर्शनों में भी मुक्ति की विवेचना की गयी है। न्याय और वैशेषिक दर्शनों के प्रणेता महर्षि गौतम तथा कणाद कहते हैं–

''दुःखात्यन्तनिवृत्तिर्मुक्तिः।''

दुःख की पूर्णरूप से निवृत्ति होना ही मुक्ति है। साँख्य दर्शनकार महर्षि कपिल कहते हैं–

''अथ त्रिविधिदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।''

तीनों प्रकार के आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक दुःखो का पूर्णरूप से नष्ट होना ही अत्यन्त पुरुषार्थ अथवा मुक्ति कहलाती है। योगदर्शनकार महर्षि पातञ्जलि ने कहा है।

''लिङ्गशरीरापगमे सति परमात्मनि जीवात्मा मुक्तिः।'

लिङ्ग शरीर के नष्ट हो जाने पर परमात्मा और जीवात्मा का संयोग हो जाता है, इसे ही मुक्ति कहते हैं।

पूर्व मीमांसा के रचयिता महर्षि जैमिनि कहते हैं–

''नित्यसुखाभिव्यक्तिर्मुक्तिः।''

नित्य सुख की अभिव्यक्ति अर्थात् प्रकाश अथवा अनुभव को मुक्ति कहते हैं।

ब्रह्म के साथ संयोग के बिना नित्य सुख होता नहीं। जीवात्मा परमात्मा के साथ संयुक्त होने पर नित्य ब्रह्मानन्द का अनुभव कर के कृतार्थ होता है। अन्यान्य दर्शनकारों ने मुक्ति के जो लक्षण कहे हैं, उनकी अपेक्षा महर्षि वेदव्यास द्वारा कथित लक्षण सुन्दर और वेदानुकुल है। ब्रह्म के साथ साक्षात्कार बिना मुक्ति नहीं होती, वेद में यह स्पष्ट कहा है। ब्रह्म सूत्र में जो मुक्ति का लक्षण दिया है उसमें भी यही बात है। अन्य दर्शनों के प्रणेताओं ने यह बात नहीं कही। तो भी भगवान् पातञ्जलि ने उसका उल्लेख किया है। ब्रह्म के दर्शन बिना मुक्ति नहीं होती, उपनिषद् में यह स्पष्टरूप से कहा है–

भिद्यते हृदयग्रन्थि श्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

मुण्डक उप0 2।2।8

उस परावर अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु आदि देवों के भी प्रभु ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर साधक की हृदय-ग्रन्थि टूट जाती है। उसके सब संशय कट जाते हैं और उसके सब कर्मों का क्षय हो जाता है– इसी अवस्था को ब्रह्म-ज्ञान कहते हैं।

शिष्य - मुक्ति के पश्चात् जीव की कैसी अवस्था होती है ?

गुरु - मुक्ति के पश्चात् जीव स्वाधीन हो जाता है। इस विषय में महर्षि वेदव्यास ने ब्रह्मसूत्र में कहा है–

''अतएव चानन्याधिपतिः।'' 4।4।9

मुक्ति के अनन्तर जीव किसी की अधीनता में नहीं रहता, अर्थात् वह कर्मों के वश में, सुख-दुःख के वश में, पाप-पुण्य के वश में, तथा जन्म-मृत्यु के वश में नहीं रहता। माया के, अविद्या के बन्धनों से वह पूर्णरूपेण मुक्त हो जाता है। परन्तु उसे ब्रह्म की अधीनता में रहना होता है। वह सत्यसंकल्प हो जाता है, अर्थात् जो संकल्प करता है, वह सत्य होता है। उसकी कल्पना में लेश मात्र भी मिथ्यात्व नहीं रहता। इच्छा करते ही सब संकल्प सिद्ध हो जाते हैं। इस विषय में ब्रह्मसूत्र है– ''संकल्पादेव तच्छ्रुतेः।'' 4।4।8

इच्छामात्र से ही उसका संकल्प पूर्ण हो जाता है। इस विषय में वेद का प्रमाण है–

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥

मुण्डक उपनिषद् 3।1।10

मुक्तात्मा मन ही मन जिन जिन स्वर्गादिलोकों को पाने की इच्छा करता है, और जिन जिन भोगों की प्रार्थना करता है, वे सब उसे प्राप्त होते हैं। अतः जो अपने मंगल की कामना करता है वह आत्मज्ञ पुरुष की सेवा करे।

मुक्तात्मा जीव की ब्रह्म के साथ समता केवल भोग के विषय में होती है, अर्थात् मुक्तात्मा ब्रह्म के साथ सब प्रकार के भोगों को भोगता रहता है, परन्तु शक्ति के विषय में समता नहीं होती, अर्थात् वह ब्रह्म की नाईं सर्वशक्तिमत्ता प्राप्त नहीं करता।

इस सम्बन्ध में व्यासदेव ने ब्रह्मसूत्र में लिखा है–

''भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च।'' 4।4।21

केवल भोग के विषय में मुक्त जीव बह्म के साथ समता पाता है। इस विषय में श्रुति का प्रमाण है –

''सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।''

तैत्तरीय उप. ब्रह्मवल्ली अनु. 1

वह मुक्तात्मा सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म के साथ सब प्रकार के भोगों को भोगता रहता है।

ब्रह्म की शक्ति के विषय में जीव की समता नहीं हो पाती इस सम्बन्ध में ब्रह्मसूत्र में लिखा है –

''जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च।'' 4।4।17

मुक्तात्मा को जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय करने की शक्ति नहीं होती। वह शक्ति केवल ब्रह्म की ही है। वह ब्रह्म की अपनी शक्ति है।

मुक्तात्मा का पुनर्जन्म नहीं होता। इस विषय में ब्रह्म सूत्र है –

''अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्।'' 4।4।22

श्रुति का वचन है –

''न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते।''

गीता में भी भगवान ने कहा है –

''आब्रह्मभुवनल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

हे अर्जुन ! ब्रह्म लोक तक सब लोकों में निवास करने वाले जीवों का पुनर्जन्म होता है। परन्तु मुझको प्राप्त हो जाने पर पुनर्जन्म नहीं होता।

मुक्त जीव सदा ब्रह्म के साथ संयुक्त होकर रहता है। तब वह अपने को ब्रह्म से अभिन्न देखता है। ब्रह्मसूत्र में कहा है –

''अविभागेन दृष्टत्वात्।'' 4।4।4

मुक्तात्मा पुरुष अपने को ब्रह्म से अभिन्न अनुभव करता है। आत्मा की इसी अवस्था को ब्रह्मज्ञान की अवस्था कहते हैं।

आत्मा

शिष्य - आत्मा किसे कहते हैं ?

गुरु - प्रत्येक प्राणी के अन्तर में जो एक चेतन पदार्थ है उसे आत्मा कहते हैं। इस आत्मारूप चेतन पदार्थ के शरीर के भीतर रहने से ही प्राणी जीता रहता है और वृद्धि को प्राप्त होता हैं। ज्योंही यह शरीर से बाहिर होता है, शरीर मृत हो जाता है। हर एक प्राणी के शरीर में स्थित इस आत्मा को ही जीवात्मा कहते हैं। ब्रह्म को भी आत्मा कहा जाता है। उपनिषद् आदि शास्त्रों में उसे परमात्मा नाम से कहा गया है। इस सम्बन्ध में वेद कहते हैं –

''ज्ञाऽज्ञौ द्वावजेशवीशानीशौ'' श्वेताश्वतर उप0 1।9

ज्ञ (सर्वज्ञ) अज्ञ (अज्ञानी) द्वौ (दोनों आत्मा और परमात्मा) अजौ (जन्म रहित हैं) ईश (ईश्वर अर्थात् सृष्टि स्थिति और प्रलय के कर्त्ता तथा) अनीश (न ईश अर्थात् पराधीन)। अर्थात् आत्मा दो हैं; उनमें एक सर्वज्ञ और ईश्वर हैं, दूसरा अज्ञानी और पराधीन है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्यन्श्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥

मुण्डक उप. 3।1।1

श्वेताश्तर उप. 4।6

सयुजा (सर्वदा संयुक्त) सखाया (समान स्वभाव वाले) द्वा (दो) सुपर्णा (पक्षी– जीवात्मा और परमात्मा) समानं (एक ही) वृक्षं (शरीर रूप पेड़ पर) परिषस्वजाते (एक साथ रहते हैं) तयो: (उन दोनों पक्षियों अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा में) अन्य: (एक जन) स्वादु (स्वादयुक्त) पिप्पलं (कर्मफलों को) अत्ति (भोग करता है) अन्य (दूसरा) अनश्नन् (कर्मफलों का भोग न करता हुआ) अभिचाकशीति (साक्षीरूप में देखता रहता है)।

सर्वदा एकत्र रहने वाले समान स्वभाव के जीवात्मा और परमात्मारूपी दो पक्षी शरीर रूपी एक ही वृक्ष पर साथ-साथ रहते हैं। उनमें से एक जीवात्मा स्वादु कर्मफलों को भोगता रहता है दूसरा

अर्थात् परमात्मा कर्मफलों को न भोगता हुआ केवल साक्षीरूप से देखता रहता है।

शिष्य - नये शरीर के साथ क्या नये जीवात्मा की सृष्टि होती है ?

गुरु - नहीं; जीवात्मा नया नहीं बनाया जाता। आत्मा अज अर्थात् जन्म रहित और नित्य है। उसका न जन्म होता है, न मृत्यु। श्वेताश्वतर उपनिषद् में तो दोनों आत्माओं को जन्म रहित कहा है। कठोपनिषत् में भगवान् यम ने नचिकेता को यही बात कही है –

न जायते म्रियते वा विपश्चिन् नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।

अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

कठोप 0 2।18

विपश्चित् (अर्थात् सर्वज्ञ) अयं (यह आत्मा) न जायते (न उत्पन्न होता है) न म्रियते (न मरता है) कुतश्चित् (किसी भी कारण से) न बभूव (यह आत्मा उत्पन्न नहीं हुआ) कश्चित् (नाही कोई इस आत्मा से उत्पन्न हुआ) अज: (क्येंकि यह तो जन्म रहित है) शाश्वत: (सदा स्थिर रहने वाला) पुराण: (कभी न बदलने वाला) अयं (यह आत्मा) शरीरे हन्यमाने (देह के नष्ट होने पर भी) न हन्यते (मारा नहीं जाता)।

यह सर्वज्ञ आत्मा न जन्म लेता है, न मरता है। यह किसी कारण रूप से कार्यरूप में उत्पन्न नहीं होता। इससे भी कोई उत्पन्न नहीं होता क्योंकि यह आत्मा अज, नित्य, शाश्वत और अपरिणामी है। शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता।

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में आत्मा के सम्बन्ध में यही बात कही है। कठोपनिषत् के इस मंत्र में कुछ परिवर्तन करके गीता में कहा है –

न जायते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूय:।

अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

2 । 20

उन्होने आत्मा के जन्म रहित और नित्य स्थायी रहने के सम्बन्ध में और भी कहा है –

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक:।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत:॥

इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, इसको अग्नि जला नहीं सकती, इसे जल गला नहीं सकता तथा वायु सुखा नहीं सकता।

शिष्य - जीवात्मा का स्वरूप क्या है?

जैसे ब्रह्म शुद्ध अर्थात् निर्लेप, बुद्ध अर्थात् ज्ञान मय और मुक्त अर्थात् प्रकृति अथवा माया के बन्धनों से रहित है, वैसा ही शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है - जीवात्मा। ब्रह्म के साथ जीवात्मा का स्वरूपगत कुछ भेद नहीं। तो भी ब्रह्म की मायाशक्ति से आबद्ध होकर जीवात्मा शरीर में बंध जाता है। रेशम का कीड़ा जैसे अपने को कोकून में स्वयं ही आबद्ध कर लेता है, मेघ जैसे सूर्य को आच्छन्न कर लेते हैं, वैसे ही माया भी जीव को घेर कर बांध लेती है।

इस आवरण के कट जाने पर जीवात्मा का अपना स्वरूप प्रकाश में आ जाता है। तब उसका शद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप प्रकट होता है।

शिष्य - आपने कहा है जीव का ब्रह्म रूप से स्वरूप में कोई भेद नहीं। ब्रह्म तो बहुत महान् है, सर्वव्यापी है। क्या जीवात्मा भी वैसा ही महान् और सर्वव्यापी है ?

गुरु - नहीं, जीवात्मा ब्रह्म के समान विशाल और सर्वव्यापी नहीं। वह तो छोटा से भी छोटा है।

''बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य यो भागों जीव: स विज्ञेय:।'' श्वेताश्तर 0 5। 9

एक टुकड़ा बाल के अग्र भाग को एक सौ टुकड़ों में काटने पर एक टुकड़ा जितना होगा, जीवात्मा को उसके समान जानो।

''एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य:।''

मुण्डकउप. 3 । 1 । 9

इस अणु परिमाण के आत्मा को चित्त द्वारा विशुद्ध ज्ञान द्वारा ही जानना होता है।

मुण्डकोपनिषद् की इस श्रुति के आधार पर ही भगवान् वेदव्यास ने सूत्र की रचना की थी -

''स्वश्बदानुमानाभ्याश्च'' 2।3।22

मुण्डक उपनिषद् के वचन में ''एषोऽणुरात्मा'' इस मंत्र में आत्मा को अणु परिमाण कहा है। अत: जीवात्मा का परिमाण अणु जैसा ही है।

शिष्य - कोई कोई जीवात्मा को ब्रह्म कहते हैं। जीवात्मा क्या सच ही ब्रह्म है ? क्या शास्त्र में यह बात है ?

गुरु - हां, शास्त्र में यह बात है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है – ''अयमात्मा ब्रह्म।'' 2।5।19

यह आत्मा ही ब्रह्म है।

अन्य शास्त्रों में भी इसके समान वचन हैं। शास्त्र में जो यह कहा है कि आत्मा ही ब्रह्म है इसका तात्पर्य यह है कि जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही अजन्मा, नित्य, शाश्वत एवं अपरिणामी हैं; दोनों में स्वरूपगत भेद कुछ नहीं तो भी शक्ति और परिणाम में खूब भेद है। ब्रह्म अथवा परमात्मा विभू एवं सर्वव्यापक हैं, जीवात्मा क्षुद्र और अणु स्वभाव का है और ब्रह्म का अंश है। दहकती हुई अग्नि और उसकी एक चिनगारी दोनों ही अग्नि हैं। एक बड़ी, दूसरी छोटी, अग्नि दोनों ही है। चिनगारी को यदि अग्नि कहें तो क्या गलत होगा? कभी नहीं। जैसे एक चिनगारी को अग्नि कहने में कोई दोष नहीं, वैसे ही जीवात्मा को ब्रह्म कहने में कोई दोष नहीं। उपनिषद् आदि शास्त्रों में इसी अभिप्राय से, इसी अर्थ में, जीव को ब्रह्म कहा है। तुम्हें पहिले बताया है कि ब्रह्म के साथ जीव का स्वरुपगत भेद नहीं होने पर भी शक्ति में बहुत भेद है। ब्रह्मसूत्र में भगवान् वेदव्यास ने यह बात स्पष्टतया कही है। ब्रह्मसूत्रों में उन्होने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, उन्हें सुनो –

''जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च।'

ब्रह्मसूत्र 4।4।17

मुक्त जीव में जगत् के व्यापार अर्थात् सृष्टि-स्थिति-संहार की शक्ति नहीं होती।

मुक्त जीव की ब्रह्म के साथ समानता केवल भोग के विषय में होती है। ''भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च।'' ब्रह्मसूत्र 4।4।21

भोग के विषय में ही मुक्त जीव की ब्रह्म के साथ समता है।

इस विषय में श्रुति का प्रमाण सुनो –

''सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।''

तैत्तरीय उपनिषत् अनु. 1

स: (वह मुक्तात्मा) विपश्चिता (सर्वज्ञ) ब्रह्मणा सह (ब्रह्म के साथ) सर्वान् कामान् (सर्व प्रकार के काम्य भोगों को) अश्नुते (भोगता रहता है)

शिष्य - आप के कथन से यह ज्ञात होता है कि जीव ब्रह्म से अलग है और वह ब्रह्म का अंश भी है।

गुरु - तुम ठीक कहते हो। जीव ब्रह्म से पृथक और ब्रह्म का अंश ही है। शास्त्र में जीव को ब्रह्म का अंश कहकर ही उल्लेख किया गया है। और जीव जो ब्रह्म से पृथक् है यह बात भी शास्त्र में कही है। जीव जो ब्रह्म का अंश है इस विषय में ब्रह्मसूत्र में कहा है -

''अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दासकितवादित्वमधीयत एके।''

ब्रह्मसूत्र 2।3।43

जीवात्मा परमात्मा का अंश है इसी कारण से श्रुति में उसे अलग करके कहा है। और अवश्य ही वह भिन्न प्रकार का है क्योंकि ब्रह्मदास ब्रह्मत्व इस प्रकार का पाठ अथर्व शाखा वालों ने किया है।

''मंत्रवर्णाच्च'' ब्रह्मसूत्र 2।3।44

मंत्रवर्ण अर्थात् वेद के वचन से भी जीव ब्रह्म का अंश है यह निश्चय होता है। वेद का प्रमाण है - ''पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।'' ''पुरुषसूक्त''

समस्त भूत अर्थात् सृष्टि उसके एक पाद में है और अन्य तीन स्वर्ग में हैं अर्थात् बैकुण्ठ आदि धाम उन तीनों पादों में हैं।

''अपि स्मर्यते।'' ब्रह्मसूत्र 2।3।45

स्मृति अर्थात् गीतादि शास्त्रों में भी जीव को ब्रह्म का अंश कहा गया है। गीता में -

''ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन: ।'' गीता 15।7

जीवलोक में मेरा ही अंश जीव है और वह अनादि है। इस स्थल में जीव को परमेश्वर का अंश कहा है। जीव जो ब्रह्म से अलग है, इस सम्बन्ध में सुनो -

जीव ब्रह्म से अलग है यह बात भगवान् वेदव्यास ने अपने ब्रह्मसूत्र में अनेक सूत्रों में सिद्ध की है। सब सूत्रों को कहने की आवश्यकता नहीं। केवल तीन सूत्र यहाँ कहता हूं। उससे समझ में आ जायेगा कि जीव ब्रह्म से पृथक् है, यही शास्त्र का सिद्धान्त है।

''अधिकन्तु भेदनिर्देशात्।''ब्रह्मसूत्र 2।1।22

जीव ब्रह्म से पृथक् है इसी कारण से उपनिषत् में कहा है - ''अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिश्चान्यो मायया सन्निरुद्ध:।

श्वेताश्तरोपनिषद् 4।9

मायी ब्रह्म इसी माया से इस जगत् की सृष्टि करता है। अन्य जो जीव है वह इस संसार में माया द्वारा ही बंधा रहता है। ''नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।''

श्वेताश्तरोपनिषत् 6।13

जो नित्यों में परम नित्य और चेतनों में परम चेतन है और एक होते हुए भी जो अनेकों जीवों के सब काम्य विषयों का विधान करता है।

पहिले जो ''ज्ञाज्ञौ'' और ''द्वा सुपर्णा'' ये वेद वचन उद्धत किये हैं, वे भी जीव की ब्रह्म से पृथकता प्रतिपादित करते हैं।

''भेदव्यपदेशाच्च' ब्रह्मसूत्र 1। 3। 5

भेद व्यपदेशात् का अर्थ है कि वेद में जीव को ब्रह्म से पृथक् कर के कहा है। इसीलिये जीव ब्रह्म से पृथक् है।

''तस्मात् वा एतस्मात् विज्ञानमयात्।
अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः।

तैत्तरीय उपनिषत् अनु. 5

इस विज्ञानमय जीवात्मा से वह आनन्दमय परमात्मा भिन्न है।

''शारीरश्चोभयेऽपिभेदेनैनमधीयते।'' ब्रह्मसूत्र 1।2।20

काण्व और माध्यन्दिन दोनों शाखा वालों ने जीव और ब्रह्म पृथक् हैं इस प्रकार के पाठ पढ़ रक्खे हैं।

शुक्ल यजुर्वेद की काण्व और माध्यन्दिन नाम की दो शाखायें हैं। इन दोनों शाखाओं की दो अलग उपनिषदें हैं। उन दोनों उपनिषदों को वृहदारण्यक नाम से कहते हैं। उनमें जीव को ब्रह्म से अलग कहा है।

शतपथब्राह्मण में कहा है -

''य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरों यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतम्।''

जो आत्मा के अन्दर में रह कर अपने वश में रखता है, वही तुम्हारा अन्तर्यामी अमृत आत्मा है अर्थात् परमात्मा है। काण्व शाखा की उपनिषद् में है -

''यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं, यो विज्ञानमन्तरो यमत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।''

वृहदाण्यक उपनि. 3। 7। 22

जो जीवात्मा के अन्दर में रह कर भी जीवात्मा से पृथक् है, जिसे जीवात्मा जानता नहीं और वही जिसका शरीर है, जो जीवात्मा के अन्दर में रह कर उसको अपने अधीन रखता है, वह ही तुम्हारा अन्तर्यामी अमृत आत्मा है अर्थात् परमात्मा है।

भगवान् वेदव्यास ने इन दोनों उपनिषदों के वचनों पर ही

''शारीरश्चोभयेऽपि भेदेनैनमधीयते।'' ब्रह्मसूत्र 1।2।20

यह सूत्र बनाकर जीव और ब्रह्म की पृथकता का प्रतिपादन किया है। माध्यन्दिन का आत्मा और काण्व शाखा का विज्ञान एक ही अर्थ में हैं। इसी से ज्ञात होता है शाखा कि ब्रह्म के साथ जीव का एकाद्वैत नहीं, बल्कि द्वैताऽद्वैत सम्बन्ध है जिसकी बुद्धि द्वारा अवधारणा करना असम्भव है। इसी कारण उसको अचिन्त्यभेदाभेद सम्बन्ध कहा जाता है। दक्षसंहिता में लिखा है-

''न द्वैतं नापिचाद्वैतमित्येत् परमर्थिकम्।''

द्वैत भी नहीं है और अद्वैत सम्बन्ध भी नहीं। द्वैताऽद्वैत सम्बन्ध ही परमार्थिक सत्य सम्बन्ध है।

महाप्रभु चैतन्यदेवजी ने भी द्वैताऽद्वैत मत को ही समीचीन कहा है। उन्होंने कहा कि ब्रह्म के साथ जीव का जो भेदाभेद अर्थात् जीव का ब्रह्म के साथ जो सम्बन्ध है वह बुद्धि के अगोचर है और भेद एवं अभेद इन दोनों प्रकार का है।

''जीबेर स्वरूप हय नित्य कृष्णदास।
कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाऽभेद प्रकाश ॥

मध्यलीला 20 अध्याय 14

ब्रह्म के साथ जीव का सम्बन्ध द्वैताऽद्वैत न हो कर यदि पूर्ण अद्वैत होता अर्थात्, यदि जीव ब्रह्म ही होता, तो जीव को कर्मकृत बन्धन नहीं हो सकता था। उस स्थिति में माया जीव को वशीभूत नहीं कर पाती, क्योंकि ब्रह्म को अपने अधीन, अपने वश में करने की शक्ति माया में नहीं। ब्रह्म माया के अधीन नहीं, माया ही ब्रह्म के अधीन है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है -

''मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।''

गीता 9।10

प्रकृति मेरी अध्यक्षता में, मेरी प्रेरणा से इस चराचर, विश्व को उत्पन्न करती है।

अब जरा सोच कर देखो कि ब्रह्म को स्वाधीन करने की शक्ति माया में है कि नहीं ? प्रकृति अथवा माया में वैसी शक्ति बिल्कुल ही

नहीं। भला कोई दासी कभी अपने प्रभु को वश में कर सकती है ? दूसरी बात यह है - ब्रह्म बहुत विशाल, सर्वव्यापक है। माया उसकी अपेक्षा अति क्षुद्र है, उसी की तो वह एक शक्ति है। माया उस ब्रह्म को अपने वश में कैसे कर सकती है ?

एक और बात है। जीव के ब्रह्म हो जाने पर ब्रह्म भी बन्धन में पड़ जायेगा। तब ब्रह्म ही माया के आधीन हो कर कर्मो के बन्धन में बंध जायेगा। उसे भी जन्म-मृत्यु, पाप-पुण्य, सुख-दुःख के अधीन होना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में ब्रह्म का ब्रह्मत्व ही लुप्त हो जायेगा। भगवान् वेदव्यास ने ब्रह्मसूत्र में इस विषय की विवेचना भी की है -

''इतरव्यपदेशात् हिताऽकरणादिदोषप्रसक्तिः।'' - ब्रह्मसूत्र 2।1।21।

इतर व्यपदेशात् (जीव को ब्रह्म कहने पर) हिताऽकरणादि दोष प्रसक्तिः (अपने सुख के लिये उपयुक्त कार्य नहीं करने के दोष की सम्भावना होगी) अर्थात् स्वयं सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् होकर इस दुःखमय सृष्टि की रचना कर अपने को ही भला दुःख में क्यों डालेंगे? यदि ऐसा होता तो वह सुखमय सृष्टि की ही रचना करते।

अब तुम्हें प्रत्यक्षदर्शी महापुरूष का कथन सुनाता हूं।

''अद्वैतवाद मत नहीं। यह तो आत्मा की एक स्थिति है। जीवात्मा और परमात्मा का मिलन होने पर आत्मा अपने को भूल जाता है। जो कुछ देखता है, उसे ब्रह्म दीख पड़ता है। अनन्त सागर में जब एक बिन्दु जल गिर पड़ता है, तब अपने चारों ओर सागर की तरंगों को ही देख पाता है। वह कभी उसमें निमग्न हो जाता है, कभी तैरने लगता है। इसी प्रकार से आत्मा का अस्तित्व नष्ट नहीं होता। यदि ऐसा होता तो ऋषि-मुनि इतना परिश्रम कर के साधना क्यों करते? यही आत्मा का परम उत्कर्ष है, यह परम सिद्धि है।''

''योग कहने से मैं जीवात्मा और परमात्मा का मिलन होना समझता हूं। यह मिलन एक हो जाना नहीं। इससे मनुष्य का आत्मा ब्रह्म में विलीन होकर अपना अस्तित्व खो नहीं बैठता।'' अंग्रेजी में जो शब्द का भाव है अर्थात् लय हो जाना ऐसी स्थिति आत्मा की नहीं होती। आत्मा पूर्णरूप से एक दूसरी वस्तु बना रहता है।

(प्रभुपाद श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी द्वारा योगसाधन के सम्बन्ध में कुछ प्रश्नोत्तर)।

आशा है अब तुम समझ गये होगे कि द्वैताऽद्वैत ही शास्त्र सम्मत सिद्धान्त है, केवलाऽद्वैत नहीं।

शिष्य- आजकल के अनेक विचारक कहते हैं कि जीवात्मा नूतन रचित वस्तु है। जब नया शरीर बनता है, तब उसके साथ आत्मा भी उत्पन्न हो जाता है। शरीर रचना के समय ईश्वर ने नये आत्मा की भी रचना करी है।

गुरु - आत्मा नूतन रचित पदार्थ नहीं; यह तुम्हें समझा दिया गया है। जो लोग आत्मा को ऐसा कहते हैं; वे उस के विषय में कुछ नहीं जानते । आत्मा यदि नूतन रचित पदार्थ होगा, तो वह अज, नित्य और शाश्वत लक्षणों वाला नहीं हो सकेगा। कारण, समस्त सृष्ट पदार्थ विनाशशील होते हैं। उत्पन्न पदार्थ का विनाश अवश्यंभावी है। परन्तु जीवात्मा का तो विनाश होता नहीं। वस्तुतः जीवात्मा न उत्पन्न होता है, न मृत होता है। जन्म और मृत्यु होती है - देह की।

''जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।''

गीता 2।27

उत्पन्न हुए व्यक्ति की मृत्यु निश्चित है, मृत व्यक्ति का जन्म भी वैसा ही निश्चित है। इसीलिए आत्मा का जन्म और उसकी उत्पति शास्त्र सम्मत नहीं। वस्तुतः ईश्वर नूतन शरीर के साथ नूतन आत्मा की रचना नहीं करते।

शिष्य -आपने जीवात्मा के विषय में जो कुछ कहा है उससे यह निश्चित होता है कि आत्मा एक नहीं अनेक हैं।

गुरु –जीवात्मा अनेक ही हैं, जितने जीव उतने आत्मा।

ब्रह्म निर्गुण भी है और सगुण भी

शिष्य - ब्रह्म क्या सगुण भी है और निर्गुण भी ?

गुरु - ब्रह्म में दोनों भाव हैं, एक निर्गुण और निरविशेष भाव दूसरा सगुण सविशेष भाव। ये दोनों अवस्थायें ब्रह्म में होने के कारण ही, उसे निर्गुण और सगुण भी कहा जाता है। एक ओर तो वह अनन्त, असीम, अपार, अगम्य, मन, वाणी के अगोचर है, यह उसका निर्विशेष भाव है। दूसरी और वह सर्वशक्तिमान्, सब का ईश्वर, सृष्टि की रचना, पालन और संहार करनेवाला, भक्तों की कामनाओं को पूर्ण करने वाला, पूर्ण ऐश्वर्य धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न लीलामय भगवान् है, यह उनका सविशेष भाव है। गुण कहने पर हम लोग सत्व, रजः और तमः इन तीनों गुणों को समझते हैं परन्तु ये तीनों गुण भगवान मे नहीं हैं, इसी कारण उन्हें निर्गुण कहा जाता है। ये सत्वादि गुण भगवान् में न होने पर भी, अनेक कल्याणकारी गुण उनमें हैं। अतः वेदादि शास्त्रों में उन्हें सगुण कहा है। तत्त्वदर्शी ऋषिजन तथा अनेक महापुरुष उनके अनेक कल्याणकारी गुणों को अनुभव करके ही उनके सगुण भाव को स्वीकार कर गये हैं। उपनिषद् आदि शास्त्रों में कहा गया है कि ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण दोनों भाव हैं। उपनिषदों ने उसे निर्गुण निर्विशेष तथा सगुण सविशेष दोनों प्रकार से कहा है। भगवान वेदव्यास ने ब्रह्म को उभयलिंग अर्थात् सगुण एवं निर्गुण कह कर उल्लेख किया है। ब्रह्मसूत्र में वेदव्यासजी का सूत्र है –

''न स्थानतोऽपि परस्योभयलिंगं सर्वत्र हि।''

ब्रह्मसूत्र 3।2।11

जाग्रत, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं से संबंध होने पर भी ब्रह्म में कोई दोष नहीं होता, क्योंकि वह उभयलिंग अर्थात् सगुण तथा निर्गुण दोनो भावों वाला है।

इस सूत्र पर रामानुजभाष्य के कुछ अंश तुम्हें कहता हूं, सुनो -

'सर्वत्र श्रुतिस्मृतिषु परब्रह्म उभयलिंग उभयलक्षणं अभिधीयते निरस्तनिखिलदोषत्वकल्याणगुणाकरत्वलक्षणोपेतं इत्यर्थः।'

'श्रुति, स्मृति आदि सभी ग्रन्थों में परमब्रह्म उभयलिंग अर्थात् सगुण और निर्गुण करके कहा गया है। वह एक ओर तो सब दोषों से रहित है तथा दूसरी ओर सब कल्याणकारी गुणों का आधार है।

इस सम्बन्ध में विष्णु पुराण में कहा है–

''समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशाद् धृतभूतसर्गः।
तेजोबलैश्वर्यमहावबोधः सुवीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः।।
परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयः सन्ति परावरेशे।

विष्णु पुराण 3।5।80।85

वे परमेश्वर समस्त कल्याणमय गुणों से परिपूर्ण हैं। वे अपनी शक्ति के लेश मात्र से समस्त सृष्टि को धारण कर रहे हैं। वे तेज, बल, ऐश्वर्य, विशुद्धज्ञान, उत्कृष्ट वीर्य और शक्ति आदि गुणों के एकमात्र आधार हैं। वे श्रेष्ठों में भी श्रेष्ठ हैं। उन सब के अधिपति को किसी प्रकार का दुःख क्लेश नहीं होता।

भगवद्गीता के बारहवें अध्याय में भगवान् कृष्णचन्द्र ने ब्रह्म को उभयलिंग अर्थात् निर्गुण तथा सगुण कहा है। भागवत के दशम स्कन्ध में प्रजापति ब्रह्मा ने जो भगवान श्रीकृष्ण की स्तुति की है उसमें भी भगवान् को उभयलिंग कहा है।

ब्रह्म के सम्बन्ध में एक अन्य गुण का उल्लेख उपनिषदों में मिलता है। वहाँ एक ओर तो ब्रह्म को निष्क्रिय कहा है, दूसरी ओर उसे सक्रिय एवं सर्वशक्तिमान कह कर उल्लेख किया है। शंकराचार्य ने ब्रह्म की शक्तिमत्ता और सक्रियता को स्वीकार नहीं किया। उनका कथन है कि ब्रह्म निष्क्रिय है। वे ब्रह्म को सगुणात्मक भी नहीं मानते। श्रुति, स्मृति आदि समस्त शास्त्रों ने ब्रह्म की शक्तिमत्ता को स्वीकार किया है। सब शास्त्रों में उसे सर्वशक्तिमान् कहा है। भगवान् वेदव्यास ने भी ब्रह्मसूत्र में उसे समस्त शक्ति का आधार स्वीकार किया है। ब्रह्मसूत्र का सूत्र है-

''सर्वोपेता च तद्दर्शनात्'' 2।1।30

सर्वोपेता च (सर्वशक्तिमत्ता भी) तद्दर्शनात् (क्योंकि ब्रह्म शक्तिमान् ही देखा जाता है।)

इस सूत्र के समर्थन में भगवान् वेदव्यास ने जो वेद वचन उद्धृत किया है, उसे सुनो -

''परास्य शक्ति र्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।''

श्वेताश्वतर उप. 6।8

इस ब्रह्म की अनेक शक्तियों की बात सुनने में आती है। ज्ञान, बल एवं क्रिया की शक्तियाँ उसमें स्वभावसिद्ध हैं। विष्णुपुराण में भी है–

विष्णुशक्ति:परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा।
अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरुच्यते॥

6।7।60

भगवान् विष्णु की तीन शक्तियाँ है एक तो पराशक्ति है। दूसरी क्षेत्रज्ञ (अर्थात् जीव) शक्ति और तीसरी शक्ति का नाम है अविद्या। इसी अविद्या शक्ति को ही कर्मशक्ति कहते हैं।

ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येका सर्वसंस्थिता।
ह्लादतापकारी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥

विष्णुपुराण 1।12।48

ध्रुवने भगवान् को कहा है, हे भगवान् ! आप अब गुणों के आधार हैं, आप में ह्लादिनी, सन्धिनी और संवित् ये तीन प्रधान शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। ह्लाद और ताप देने वाली मिली-जुली शक्ति आप में नहीं है क्योंकि आप गुणहीन हैं अर्थात् सत्वादि गुण आप में नहीं हैं।

मुक्ति प्राप्त करने के उपाय

शिष्य -किन उपायों से मुक्ति मिल सकती है?

गुरु - जीव कर्मों के वश में है, उन्हीं के संस्कारो से बने हुए अदृष्ट से प्रेरित होकर वह वृक्षलता, कीटपंतग, पशुपक्षी, मनुष्य आदि नाना योनियों में जन्म लेता है। जब तक जीव की वासनायें नष्ट नहीं होती तब तक वह बार-बार जन्म-मृत्यु पाकर अनेक प्रकार के दु:ख भोगता है। जीव चौरासी लाख बार जन्म लेता है। कई लाख बार उद्भिज, कीट, पंतग, पशु, पक्षी आदि योनियों में जन्म लेकर अन्त में मनुष्य होकर जन्म लेता है। मनुष्य का जन्म पाने का अधिकार पाकर जीव पहिले कोल, भील, सान्थाल आदि असभ्य जातियों में जन्म पाता है। बाद में नीच जातियों से उत्कृष्ट जाति में जन्मता है। उत्कृष्ट और निकृष्ट जाति किसे कहते हैं यह श्रीमद्भगवत में भगवान् कपिलदेव ने कहा है–

''जीवा: श्रेष्ठा ह्यजीवानां तत: प्राणभृत:शुभे।
तत: सचित्ता: प्रवरास्तततश्चेन्द्रियवृत्तय:॥
तत्रापि स्पर्शवेदिभ्य: प्रवरा रसवेदिन:।
तेभ्यो गन्धविद: श्रेष्ठास्तत: शब्दविदोवरा:॥
रूपभेदविदस्तत्र ततश्चोभयतोदत:।
तेषां बहुपदा:श्रेष्ठाश्चतुष्पादास्ततो द्विपात्॥
ततो वर्णाश्च चत्वारस्तेषं ब्राह्मण उत्तम:।
ब्राह्मणादपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्तत:॥
अर्थज्ञात् संशयच्छेत्ता तत: श्रेयान् स्वकर्मकृत्।
मुक्तसंगस्ततो भूयान् दोग्धा धर्ममात्मान:॥
तस्मान्मय्यपर्पिताशेषक्रियार्थात्मा निरन्तर:।
मय्यर्पितात्मन: पुँसो मयि सन्यस्तकर्मण:॥
न पश्यामि पर भूतमकर्तु: समदर्शनात्॥

श्रीद्भभागवत 3।29।28-33

अचेतन पदार्थ से सचेतन पदार्थ श्रेष्ठ होता है। सचेतन से प्राणयुक्त, प्राणयुक्त से चित्तयुक्त अथवा ज्ञानवान्, उससे भी इन्द्रियों की वृत्ति से सम्पन्न जीव, उससे गन्ध का अनुभव करने वाला, उससे रूप का ज्ञान करने वाला, उससे शब्द का अनुभव करने वाला, उससे दाँतों वाला प्राणी, उससे दो पैर वाला, उससे चार वर्णों वाला मनुष्य, उसमें भी ब्राह्मण श्रेष्ठ होता है। ब्राह्मणों में वेद को जानने वाला, उससे वेदों के अर्थ का ज्ञाता, उससे संशय को दूर करने वाला अर्थात् मीमांसा से तत्त्व को समझने वाला, उससे भी मुक्त संग मनुष्य श्रेष्ठ होता है। उससे भी जो मुक्तसंग अपने धर्म को निष्काम होकर करता है वह श्रेष्ठ है, उससे भी जिसने अपने समस्त कर्मों के फलों को, अपने मन तथा बुद्धि को मुझ में अर्पित किया है वह सर्वश्रेष्ठ है। जिसने अपना चित्त मेरे में लगाया है, समस्त कर्मों और उनके फलों को मुझे अर्पित किया है, जो कर्तृत्व के अभिमान से रहित है, एवं जो समदर्शी है, उससे बढ़कर उत्तम जीव मैंने देखा नहीं।

मनुष्य जन्म पाकर जब जीव उपासना की आवश्यकता को अनुभव करने लगता है, तब वह कितने ही जन्मों में तो पुत्रोत्पत्ति के लिये, ऐश्वर्यलाभ के निमित्त, शरीर की आरोग्यता के हेतु, अपने शत्रु के वध की इच्छा से भूत, प्रेत, यक्ष, राक्षसों की उपासना करता है। डाकिनीसिद्धि, योगिनीसिद्धि, बैतालसिद्धि आदि सिद्धियाँ इस प्रकार की उपासनाओं में गिनी जाती हैं। उसके पश्चात् देवताओं की उपासना की ओर प्रवृत्ति होती है। अब जीव स्वर्गादि लोकों के सुख की अभिलाषा से, सकाम उपासना की पद्धति से इन्द्र, वरुण, कुबेर, सूर्य, गणेश, शिव आदि देवों की उपासना करता है। ''चन्द्र, सूर्य, वरुण, अग्नि, इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, शिव इन समस्त देवों की पूजा अर्चना जो करते हैं, वे सकाम उपासना करते हैं। वे लोग इन देवताओं से अधिक कुछ नहीं पाते।'' (प्रभुपाद गोस्वामी के वचन)

इस प्रकार की उपासनाओं के फलस्वरूप स्वर्ग के भोग प्राप्त होते हैं अथवा उपासक की कामनानुसार फल प्राप्त होता है। उपासक जिस कामना को लेकर जिस देवता की उपासना करता है, वह देवता उसकी उसी कामना के अनुरूप फल देते हैं। इस प्रकार की उपासना

से अच्छे भोगों की प्राप्ति, ऐहिक सम्पत्ति के लाभ के अतिरिक्त मोक्ष नहीं मिलता। मोक्ष लाभ के लिये ब्रह्म उपासना की आवश्यकता होती है। कारण, ब्रह्म के अतिरिक्त मोक्ष प्रदान की सामर्थ्य किसी देवता में नहीं। ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से मुक्ति नहीं होती। मनुष्य जब अनेक जन्मों में देवताओं की उपासना कर लेता है, तब उसे ब्रह्म की उपासना का अधिकार मिलता है। फिर वह गुरु से दीक्षा लेकर पहिले तीन जन्मों में सूर्य की, तत्पश्चात् तीन जन्मों में शिव की, अनन्तर तीन जन्मों में विष्णु की, तत्पश्चात् एक शत जन्मावधि शक्ति की उपासना करता है। पश्चात् उसे सद्गुरु के लाभ का अधिकार प्राप्त होता है। जब सद्गुरु मिल जाता है, तब उसका आश्रय पाकर तीन जन्मों में उसकी मुक्ति हो जाती है।

साधारण गुरु द्वारा दीक्षित उपासक जब ब्रह्म आदि देवों की उपासना करता है, तब उसकी कुण्डलिनीशक्ति जागृत नहीं होती, अथवा यों कहो ''मन्त्र चैतन्य'' नहीं होता। साधारण गुरु में कुडलिनीशक्ति को जागृत कराने की अथवा ''मंत्र चैतन्य'' करने की सामर्थ्य नहीं होती। केवल सद्गुरु ही शिष्य के अन्तर में शक्तिसंचार कर शिष्य की कुण्डलिनी को जगाने वा ''मंत्र चैतन्य'' करने में समर्थ होता है। ''मंत्र चैतन्य'' और कुण्डलिनी के जागृत न होने पर जीव की वासना का नाश नहीं होता, अदृष्ट का क्षय नहीं होता, अनादि कर्मचक्र की गति रुकती नहीं। मनुष्य सत्व, रजः, तमः आदि तीनों गुणों से छुटकारा नहीं पाता। सद्गुरु शिष्य के अन्दर अपनी शक्ति का संचार कर कुण्डलिनी को जागृत करा के चैतन्यमय मन्त्र देता है। इस प्रकार सद्गुरु द्वारा दिये हुए चैतन्यमय मंत्र को लेकर शिष्य गुरुनिर्दिष्ट रीति से साधना करने पर तीन जन्मों में मुक्ति प्राप्त कर लेता है। प्रथम जन्म में उसका तमोगुण, दूसरे में रजोगुण और तीसरे जन्म में सत्वगुण नष्ट हो जाता है। तब वह ज्योतिर्मय ब्रह्म का दर्शन पाकर माया से मुक्त होता है।

इस सम्बन्ध में वेद का वचन है -

''भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

मुण्डकोपनिषत् 2।2।8

परावरे (अर्थात् ब्रह्मादि निम्नकोटि के देवताओं से श्रेष्ठ ब्रह्म) के दर्शन कर लेने पर हृदय की सब गांठें खुल जाती हैं, सब प्रकार के संशय दूर हो जाते हैं व सब कर्मों का क्षय हो जाता है।

भगवान वेदव्यास ने भी भागवत में यही बात कही है। भागवत प्रथम स्कन्ध के दूसरे अध्याय में इक्कीसवें श्लोक में यह बात कही है-

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ॥

देवता और ब्रह्म

शिष्य - ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, आदि को देवता कहते हैं, इसका मतलब? क्या ये सब ब्रह्म नहीं?

गुरु - ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश आदि देवता भी हैं और ब्रह्म भी। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में सृष्टि की रचना-पालन और प्रलय के कर्ता ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। वे सत्व, रजः और तमः इन तीनों गुणों के अधिष्ठाता देवता के रूप में इन्हीं गुणों के साथ मिलकर उनमें सन्निविष्ट हो कर-सृष्टि की रचना, पालन, प्रलय का कार्य निष्पन्न करते हैं। इस सृष्टि में अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। वैसे ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी अनन्त हैं। ये सब देवता माया से संसृष्ट हैं, माया-जड़ित हैं। इनके प्रत्येक के स्वतन्त्र धाम हैं ब्रह्मा, विष्णु, शिव यथाक्रम ब्रह्मलोक, बैकुण्ठलोक और कैलास धाम में निवास करते हैं। जैसे ये देवता माया से जड़ित हैं वैसे ही इनके धाम भी मायामय हैं और माया के क्षेत्र में स्थित हैं। महाप्रलय के समय वे सब धाम विनष्ट हो जाते हैं। अनन्त ब्रह्माण्डों के अनन्त ब्रह्मा, विष्णु, शिव अनन्त ब्रह्मलोक, बैकुण्ठ और कैलासधामों में निवास करते हैं। इस सम्बन्ध में देवीभागवत में एक विवरण है, सुनो-

सृष्टि रचना के पहिले जब सर्वत्र जल ही जल था उस समय भगवान् विष्णु एकार्णव महासमुद्र में शेषनाग की शय्या पर सो रहे थे। उनकी नाभि-कमल से सृष्टि की रचना करने वाले ब्रह्मा ने उत्पन्न होकर देखा कि मधु और कैटभ नामक दो असुर उन्हीं को हनन करने के लिये तैयार हो रहे हैं। तब ब्रह्मा ने भयभीत होकर जिस कमल से उत्पन्न हुए थे, वह कहाँ से निकला है यह जानने के लिये उसका नाल पकड़ कर जल में गोता लगाया। जल में डूब कर उन्होंने देखा कि शंखचक्रगदापद्मधारी चतुर्भुज, श्यामवर्ण और पीतवसनधारी एक पुरुष शेषनाग की शय्या पर लेटे हुए निद्रामग्न हैं। तब ब्रह्मा जी ने योगनिद्रा देवी की स्तुति की। ब्रह्मा की स्तुति से प्रसन्न होकर निद्रा देवी भगवान् विष्णु के शरीर से निकल कर आकाश में स्थित हो गयी। ज्यों ही निद्रा देवी विष्णु भगवान् के शरीर से अलग हुई, वे जाग उठे और

मधुकैटभ के साथ युद्ध कर उन्हें मार गिराया। असुरों के मारे जाने पर योगनिद्रा देवी ने ब्रह्मा, विष्णु और शिव को कहा कि असुरों का विनाश हो गया है, अब आप निश्चिंत होकर सृष्टि स्थिति और प्रलय के कार्यों को निष्पन्न करो। विष्णु और शिव वहां उपस्थित हो गये थे। देवी की बात सुनकर ब्रह्मा ने कहा- यहां तो जल ही जल है, सृष्टि कैसे हो सकेगी ? तब निद्रा देवी हंसने लगी, उसी समय आकाशमार्ग से एक दिव्य रथ वहाँ आ गया। ब्रह्मा आदि को साथ लेकर देवी रथ पर चढ़कर रथ चलाने लगी। रथ बहुत दूर निकल गया, अब वे एक दूसरे ब्रह्माण्ड में पहुँच गये। वहाँ उन्होंने इन्द्र आदि दिक्पाल, ब्रह्मा, विष्णु, शिव और उनके धाम, ब्रह्माणी, लक्ष्मी, पार्वती, इन्द्राणी, नन्दन वन, कल्पवृक्ष और उसकी छाया में बैठी सुरभि आदि का दर्शन किया। यह सब देख कर उन्हें बहुत विस्मय हुआ। इसके बाद रथ वहाँ से दूसरे ब्रह्माण्ड में पहुँचा। जहाँ भी पहिले जैसे ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि दिखाई दिये। इस प्रकार उन्होंने अनेक ब्रह्माण्ड और अनेक, ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा इन्द्रादि दिक्पालों के दर्शन किये। अन्त में उन देवताओं ने भुवनेश्वरी देवी के पास जाकर उनकी स्तुति कर उसे प्रसन्न किया। भुवनेश्वरी देवी ने उनकी स्तुति से प्रसन्न होकर उनको सृष्टि स्थिति तथा प्रलय की शक्ति प्रदान की और अपनी देह से तीन नारियों को उत्पन्न कर उन देवों को दी। वे नारियाँ ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की पत्नी हुई। इस प्रकार सृष्टि की रचना पालन और प्रलय करने वाले ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव देवता हैं। इनकी सामर्थ्य सीमित है। इनमें मोक्ष देने की शक्ति नहीं। इसी प्रकार सूर्य और गणेश भी हैं, वे देवता ही हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य्य और गणेश आदि देवों की उपासना देवोपासना है। इनसे अतिरिक्त विरजा के दूसरे पार में, माया के क्षेत्र से बाहर दूसरे ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य और गणेश हैं। माया के क्षेत्र से परे उनके स्वतन्त्र धाम हैं। उन धामों में माया का कुछ भी अधिकार नहीं। वे नित्यधाम हैं, महाप्रलय में वे विनष्ट नहीं होते। विरजा के दूसरे पार में विद्यमान ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य और गणेश परावरेश हैं। उनका माया के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। वे ब्रह्म हैं। उनकी उपासना ब्रह्म की उपासना होती है। उनकी उपासना से मुक्ति होती है।

कुलगुरु और सद्गुरु

शिक्ष्य - कुलगुरु और सद्गुरु किसे कहते हैं?

गुरु - जिन्होंने साधन कर के अपनी कुंडलिनी को जागृत कर लिया है, जो शास्त्रीय पद्धति से तपस्या कर के अपनी कुंडलिनी शक्ति को चेतन करने में कृतकृत्य हो गये हैं, शास्त्र में उन्हें कुलगुरु कहा है परन्तु आजकल ऐसे कुलगुरु बहुत दुर्लभ हो गये हैं। अब तो कुलगुरु कहने पर वंश का क्रमागत गुरु समझा जाता है।

''कुलगुरु का अर्थ है जिसकी कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो गयी है, वही कुलगुरु है। कुलगुरु कहने पर पैतृक गुरु का मतलब नहीं होता। जिन्होंने तंत्रशास्त्र के अनुसार उपासना कर के कुण्डलिनी को जगा लिया है उन्हें ही कुलगुरु कहते हैं। ''(श्रीमद् प्रभुपाद विजयकृष्ण गोस्वामी के वाक्य)

सद्गुरु - जो शब्दब्रह्म और परब्रह्म के ज्ञाता हैं उन्हीं को सद्गुरु कहते हैं। शब्दब्रह्म अर्थात् वेद में जो सब मंत्र हैं, उन सब मंत्रों के भिन्न-भिन्न अधिष्ठात्री देवता हैं। जैसे गायत्री की अधिष्ठात्री देवता है सावित्री। वे सब अधिष्ठात्री देवता जिसके समक्ष प्रत्यक्ष हुए हैं उसी को शब्दब्रह्म का ज्ञाता कहते हैं। ऋग्, यजु, साम और अथर्व इन चारों वेदों के पाठों को कंठस्थ करके टीका वा कोष की सहायता से उनके अर्थों को जान लेने से कोई वेदवेत्ता वा शब्दब्रह्म का ज्ञाता नहीं हो जाता। महाभारत आदि ग्रंथों में उपमन्यु, आरूणि आदि के जो उपाख्यान हैं उनसे ज्ञात होता है कि उन्होंने दीर्घ समय तक गुरु की सेवा की। उनकी सेवा से संतुष्ट होकर गुरु ने वर दिया कि तुम्हारे अन्त:करण में सब वेद स्फुरित हों, स्वत: प्रकाशित हों। इस प्रकार उन लोगों के अन्तर में सब वेद स्वत: स्फुरित हुए थे। वेदों के अधिष्ठाता देवताओं ने उनके निकट प्रत्यक्ष होकर, वेद मंत्रों के यथार्थ मर्म वास्तविक तात्पर्य एवं अर्थ तथा निगूढ़ रहस्यों को भी उनके हृदय में प्रकाशित किया। तब वे लोग समस्त वेदों के मर्म को जानकर वेदवित् अथवा शब्दब्रह्म के वेत्ता बने थे। इस रीति से जिन्हें वेदों के अर्थ का ज्ञान हुआ है, वेदाधिष्ठात्री देवताओं के दर्शन कर उनकी कृपा

से वेदमंत्रों के समस्त रहस्य जिनको परिज्ञात हुए हैं, जो इस प्रकार वेदवेत्ता होकर, परब्रह्म के ज्ञाता हुए हैं - उन्हीं को सद्गुरु कहते हैं। ऐसा शक्ति सम्पन्न पुरुष ही सद्गुरु कहलाने योग्य होता है, वही सद्गुरु कहा जाता है। ऐसे ही सद्गुरु शिष्य की कुण्डलिनीशक्ति को जागृत कर, उसमें अपनी शक्ति संचार कर, मंत्रचैतन्य प्रदान कर सकते हैं। मंत्र के कुछ अक्षरों को ही मंत्र नहीं कहा जाता। मंत्र देने के समय गुरु जो शिष्य में शक्तिपात करता है, मन्त्र से संयुक्त कर जो शक्ति शिष्य को देता है, वास्तविक मन्त्र वही है। इस प्रकार चैतन्ययुक्त मन्त्र के प्रभाव से ही जीव की वासनायें विनष्ट होती हैं, कर्मों का क्षय होता है और अदृष्ट भी खण्डित होता है। जीव मुक्ति प्राप्त करता है।

इस विषय की एक सुन्दर कहानी है। एक समय एक ब्राह्मण ने भगवान वेदव्यासजी के पास जाकर प्रर्थना की, ''भगवन् ! आप मुझे ऐसी सामर्थ्य दीजिये जिसके द्वारा मैं समस्त लोकों में भ्रमण कर सकूँ।'' महर्षि ने ब्राह्मण की प्रार्थना को स्वीकार कर एक बिल्व पत्र पर रामनाम लिखकर ब्राह्मण को दे दिया और कहा ''इस बल्व पत्र को हाथ में लेकर तुम जहाँ भी जाना चाहोगे उसी समय वहाँ जा सकोगे।'' महर्षि वेदव्यास द्वारा प्रदत्त उस बिल्व पत्र को हाथ में लेकर ब्राह्मण उसके प्रभाव से अपनी इच्छानुसार लोकलोकान्तरों में भ्रमण करने लगा। समय बीतने पर वह बिल्व-पत्र सूख कर टुकड़ा टुकड़ा हो गया। ब्राह्मण ने मन में सोचा ''यह बिल्व-पत्र सूख कर टूट गया है, इस पर जो लिखा है उसे दूसरे बेल के पत्र पर लिख लेता हूं। बिल्व-पत्र और उस लिखे हुए शब्द के रहने से काम चल जायेगा।'' यह विचार कर उसने एक नये बेल पर राम नाम लिख लिया। पुराने पत्र को फेंक दिया। परन्तु उस नये बिल्व पत्र को हाथ में लेकर अब वह कहीं भी नहीं जा सका। नवीन बिल्वपत्र और उस लिखे राम नाम में उसे कहीं भी ले जाने की शक्ति नहीं थी। तब ब्राह्मण ने दुःखित होकर व्यासजी के पास जाकर सब वृतान्त कहा। व्यासजी ने उत्तर दिया- ''बिल्व पत्र और उस पर लिखे शब्द में कोई शक्ति नहीं। मैंने बिल्वपत्र पर लिखे हुए शब्द में ऐसी शक्ति दी थी जिसके द्वारा तुम लोक-लोकान्तरों में गमन कर पाये थे। मैंने जो बिल्व पत्र दिया था

उसके साथ ही तुमने मेरी दी हुई शक्ति को फेंक दिया है। अतः अब तुम में लोक लोकान्तरों में जाने की सामर्थ्य कैसे हो? मैंने पत्र पर लिखे शब्द में अपनी तपस्या से प्राप्त शक्ति डाल दी थी। उसी के द्वारा तुमने सब स्थानों में घूमने की क्षमता पायी थी। नये पत्र में वह शक्ति नहीं है अतः तुम्हें कहीं भी ले जाने के लिये सामर्थ्य उसमें नहीं।''

कुलगुरु दुर्लभ नहीं। परन्तु प्रयत्न करने पर भी मनुष्य सद्गुरु को नहीं पाता। सद्गुरु तभी मिलता है जब भगवान् की कृपा होती है। श्रुति में कहा है -

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

कठोपनिषत् 1|2|23

इस परमात्मा को प्रवचनों से, बुद्धि से अथवा अनेक शास्त्रों के श्रवण से प्राप्त नहीं किया जा सकता। ये भगवान् ही जिस पर कृपा करते हैं उसके समक्ष अपने स्वरूप को प्रकट करते हैं।

भगवान् जिस पर कृपा करते हैं, वही उन्हें पाता है। उपनिषद् के इस वचन का तात्पर्य यह है कि परमेश्वर जिसको वरण करते हैं, वही सद्गुरु की कृपा लाभ करता है। गुरु की कृपा के बिना परमेश्वर को प्राप्त नहीं किया जा सकता। पाँच वर्ष के बालक ध्रुव को भी सद्गुरु की आवश्यकता थी अन्यथा भगवान् उसे प्राप्त नहीं होते। सद्गुरु की जब कृपा होती है, तभी परमेश्वर मिलते हैं, तब वे अपने स्वरुप को, अपनी मूर्त्ति को उसके समक्ष प्रकट करते हैं। परमेश्वर द्वारा स्वयं मनोनीत व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई क्या उन्हें प्राप्त कर सकता है, उनके दर्शन कर सकता है ? और 'तनू स्वाम्' उन पदों से श्रुति यह भी दर्शाती है कि भगवान् के भी विग्रह, शरीर और मूर्ति हैं।

अन्य एक बात यह है कि सद्गुरु पृथ्वी पर सब समयों में अवतार नहीं लेते। एक समय में एक व्यक्ति से अधिक, दो अथवा उससे अधिक सद्गुरु पृथ्वी पर नहीं आते। जैसे भगवान् सदा अवतार नहीं लेते और एक काल में भगवान् के अनेक अवतार नहीं होते, उसी भांति सद्गुरु भी सदा पृथ्वी पर अवतीर्ण नहीं होते; एक व्यक्ति से

अधिक, दो अथवा अनेक सद्गुरु एक काल में इस लोक में नहीं आते। जैसे भगवान् स्वयं अवतार लेकर पृथ्वी पर आते हैं, मानव-लीला करते हैं, वैसे ही सद्गुरु स्वयं भगवान् का रूप होते हैं, वे भी लोगों के उद्धार के हेतु, मनुष्यों को मुक्ति दिलाने के लिये मानव देह धारण कर पृथ्वी पर आते हैं। भगवान् के देह और देही में जैसे कुछ भिन्नता नहीं, वैसे ही सद्गुरु के देह और देही में भिन्नता नहीं होती। जिस समय भगवान् सद्गुरु के रूप में आते हैं, उस काल में मुक्ति प्रदान की सामर्थ्य केवल उन सद्गुरु में ही होती है। उनके अतिरिक्त अन्य किसी को यहाँ तक कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव को भी मुक्ति देने का अधिकार नहीं रहता। सिद्ध पुरुष, साधु और महापुरुष जीव कोटि में भगवान् के आवेश मात्र होते हैं। सद्गुरु ब्रह्म कोटि के स्वयं भगवान् होते हैं।

शिष्य - गुरु के विषय में आपने जो कहा है उससे यह स्पष्ट है कि आजकल के वंश-गुरू सद्गुरु नहीं हैं। सद्गुरु वा कुलगुरु मिलने पर उनसे दीक्षा लेनी चाहिये, यही आपके कथन का तात्पर्य है। इससे वंश के गुरु को हम छोड़ सकते हैं। इसमें क्या कोई दोष होगा?

गुरु - नहीं, इसमें कुछ भी दोष नहीं होगा। नारदपंचरात्र में लिखा है–

''गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते॥
स गुरुः परमो वैरी यो ददाति ह्यसम्मतिम्।
तं नमस्कृत्य सच्छिष्यः प्रयाति ज्ञानदं गुरुम्॥

नारदपञ्चरात्र 1।10।20-21

जो गुरु अभिमानी हो, कार्याकार्य को नहीं जाने, कुमार्ग गामी हो उसका परित्याग उचित है। जो गुरु बुरी मति दे, वह शिष्य का बैरी है। उसे नमस्कार कर शिष्य ज्ञानदाता गुरु के पास चला जाये। तंत्रसार में भी लिखा है–

''मघुलुब्धो यथा भृङ्गः पुष्पात् पुष्पान्तरं ब्रजेत्।

श्रानलुब्धस्तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं ब्रजेत्॥
अत एव महेशानी, लक्षमेकं गुरुं त्यजेत्।

अर्थात् मधु का लोभी भ्रमर जैसे एक पुष्प का मधु पीकर मधु समाप्त होने पर और मधु पीने की इच्छा से दूसरे पुष्प पर चला जाता है वैसे ही ज्ञान का लोभी शिष्य ज्ञान प्राप्ति के लिये अपने गुरु से सन्तुष्टि नहीं होने पर दूसरे की शरण में जा सकता है। हे महेश्वरी ! ऐसी स्थिति में तो एक लाख गुरु का भी परित्याग किया जा सकता है।

मोक्ष की इच्छा वाला शिष्य अपने कुल-क्रमागत गुरु के भीतर ज्ञान दाता गुरु को न पाकर अथवा उसमें से किसी में दीक्षा के लिये श्रद्धा न होने पर दूसरे गुरु की शरण ग्रहण कर सकता है, यह शास्त्र का मत है। कुलक्रमागत गुरु के द्वारा दीक्षा ग्रहण करने के लिये जिनमें श्रद्धा हो, वे लोग उनसे ही दीक्षा ग्रहण करें।

निष्काम कर्म

शिष्य - निष्काम कर्म किसे कहते हैं?

गुरु - फल लाभ की इच्छा से रहित कर्म को निष्काम कर्म कहते हैं। फल क्या होगा इसकी ओर दृष्टि न रख कर, उसकी इच्छा न करते हुए, कर्म करना ही चाहिये, ऐसी कर्तव्य भावना से जो कर्म किया जाता है, उसका नाम निष्काम कर्म है। कर्म के फल में आसक्ति रहित होकर कर्म करने से वह कर्म निष्काम कर्म हो जाता है। ऐसे निष्काम कर्म से मनुष्य के कर्मों के नये संस्कार नहीं होते, नया अदृष्ट नहीं बनता। निष्काम कर्म द्वारा मनुष्य इस संसार में कर्म के बन्धन से छूट जाता है।

सनिमित्तं च यत्कर्म बन्धने विद्धि यादव।
अनिमित्तं चं यत्कर्म मोक्षदं परम शुभम्॥''

गर्गसंहिता विज्ञान खण्ड 2।4

सकाम कर्म बन्धन का कारण होता है। निष्काम कर्म परम शुभ मोक्ष देने वाला होता है।

धान के साथ तुष रहने पर उसमें अंकुर निकलता है, तुष न होने पर अंकुर भी उगता नहीं। कामना ही कर्म का तुष है। कामनारूपी तुषयुक्त कर्म से अंकुर उत्पन्न होता है। कामनारूप तुष रहित कर्म में अंकुर भी नहीं होता। गीता में उपदेश दिया है-

''तस्मासक्त: सततं कार्य कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरूष: ॥7॥ 11
योगस्थ: कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्धयसिद्धयो: समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥2॥ 48
यत्करोषि यदश्नासि यच्जुहोषि ददाति यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥9॥ 27

इसलिये आसक्ति रहित होकर सदा कर्तव्य कर्म रहते रहो, अनासक्त होकर कर्म करने से मनुष्य परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है।

हे धनञ्जय योगस्थ होकर, आसक्ति छोड़ कर, सफलता और विफलता में समदृष्टि होकर कर्मों को करो। सफलता एवं विफलता में जो समभाव है उसी को योग कहते हैं।

जो भी तुम करते हो, खाना पीना, हवन-तपस्या, दानपुण्य सब मुझे अर्पण कर दो।

निष्काम कर्म के सम्बन्ध में भगवान् ने गीता में अनेक उपदेश दिये हैं। यहां तुम्हें थोड़ा सा ही कहा है, जरूरत हो तो गीता में पढ़ कर देख लो।

शक्तिसंचार

शिष्य - कुण्डलिनी को जागृत करना और शक्ति का संचार करना किसे कहते हैं ?

गुरु - प्रत्येक मनुष्य के भीतर अनेक प्रकार की शक्तियाँ हैं- विद्या सीखने की शक्ति, गायन की शक्ति, चित्र लेखन की शक्ति, इस प्रकार से अनेक शक्तियाँ मनुष्य के अन्दर निहित हैं। उपयुक्त शिक्षा से, उपयुक्त उपदेश से, उपयुक्त चर्चा से, उचित अभ्यास से वे शक्तियाँ विकसित होती हैं। उपयुक्त उपदेशक के बिना, उपयुक्त गुरु के बिना मनुष्य अपने यत्न से उन शक्तियों की उन्नति, उनका पूर्ण विकास नहीं कर सकता।

अन्यान्य शक्तियों की भाँति मनुष्य में धार्मिक उन्नति करने की शक्ति भी है। जिस शक्ति द्वारा मनुष्य धार्मिक जीवन बनाने में समर्थ होता है उस शक्ति को कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं। प्रत्येक मनुष्य में यह कुण्डलिनी शक्ति है, परन्तु सुप्त अवस्था में, अचेतन अवस्था में है। कुण्डलिनी के सुप्त रहने पर, अचेतन रहने पर मनुष्य धार्मिक उन्नति नहीं कर पाता। अत: धार्मिक उन्नति करनी हो तो कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करना, उसे चेतन करना आवश्यक है। सद्गुरु उसी कुण्डलिनी शक्ति को जगा देते हैं, सचेतन कर देते हैं। सद्गुरु में कुण्डलिनी को जगा देने की सामर्थ्य होती है।

अग्नि सभी पदार्थों में है। प्रत्येक वस्तु के भीतर अग्नि गुप्त रूप से विद्यमान है। परन्तु प्रकट नहीं होती, जागती नहीं। किसी तरीके से जला देने पर वह प्रकट होती है और हम उसका कार्य देख पाते हैं। प्रत्येक पदार्थ के अन्तर में स्थित अग्नि को प्रकट करने के लिये, उसे जला देने के लिये एक दूसरी जलती अग्नि की सहायता आवश्यक होती है। जलती हुई अग्नि से किसी भी वस्तु में अन्तर्निहित अग्नि को जैसे प्रज्वलित किया जा सकता है, वैसे ही गुरु अपनी शक्ति से शिष्य के अन्दर में सुप्त अचेतन शक्ति को जागृत एवं चेतन करने में समर्थ होता है। इस प्रकार से जागृत करने को, चैतन्य युक्त करने को शक्ति संचार अथवा ''मंत्र चैतन्य'' करना कहते हैं।

पाश्चात्य देश के ''मैस्मरिज्म'' की बात तो तुमने सुनी होगी। मैस्मरिज्म द्वारा एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के अन्दर अपनी शक्ति को संक्रमित कर सकता है। यह भी एक तरह का शक्तिसंचार है। एक आदमी का लड़का मर जाता है, वह पुत्र के शोक से दुःखी होता है, रोता है, उसे रोते हुए देख कर उससे मिलने वालों के मन में भी शोक और दुःख का उदय होता है, उनकी आँखों में आंसू उमड़ आते हैं, वे भी रो पड़ते हैं। यह कैसे होता है ? पुत्र शोक से पीड़ित मनुष्य का शोक और दुःखी व्यक्ति का अन्तःस्थित शोक दुःख देखने वालों में भी संक्रमित होकर उन्हें भी कुछ-कुछ शोक पीड़ित व्यक्ति के समान अवस्था में कर देता है। पुत्र शोक से दुःखी व्यक्ति का अन्तःस्थित शोक और दुःख देखने वालों के हृदय में उदित होने से उसकी शोकानुभूति उनमें संचारित हो जाती है। इस प्रकार एक आदमी का सुखदुःख, पापपुण्य, भलाई बुराई निकट होने के कारण अथवा एकत्र निवास के कारण दूसरे मनुष्य में संचारित होते हैं और उसमें संक्रमित होकर कार्य करते हैं। यह भी एक प्रकार से शक्ति-संचार है। फिर भी इसका फल क्षणिक और अस्थायी है। शक्ति-संचार का कार्य इस प्रकार से स्वाभाविक नियमानुसार जगत् में चलता रहता है। अच्छी संगति से मनुष्य अच्छा बनता है और बुरी संगति से बुरा होता है- यह भी तो एक प्रकार से शक्ति-संचार का कार्य है। एक व्यक्ति के शोक और दुःख, सत्पुरुष के सद्गुण और दुश्चरित के दुर्गुण जिस प्रकार

दूसरे मनुष्य में प्रवेश करते हैं, वैसे ही सद्गुरु शिष्य के अन्दर अपनी शक्ति का प्रयोग कर के, उसमें संचारित कर के शिष्य की सुप्त अचेतन शक्ति को सदा के लिये जागृत और चैतन्ययुक्त कर देता है। संसार में साधारणतया जो शक्ति संचार के कार्य होते हैं उनके प्रभाव थोड़े समय के लिये होते हैं। परन्तु सद्गुरु जो अपनी शक्ति को शिष्य में संचारित कर शिष्य की शक्ति को जगा देता है, चेतन कर देता है, उसका वह कार्य सर्वदा के लिये स्थायी होता है। सद्गुरु जब शिष्य को मन्त्र देता है तब उस मन्त्र के साथ अपनी शक्ति को शिष्य के अन्तर में प्रयुक्त करता है, संचारित करता है, इसी कारण से सद्गुरु द्वारा दिया मंत्र शक्तियुक्त चैतन्ययुक्त होता है। यह शक्ति-संचार कैसा होता है, यह बात जब तक संचार का अनुभव न हो तब तक समझ में नहीं आ सकती। जैसे किसी मनुष्य के अन्दर विद्युत के संचार करने पर वह अपने शरीर के अन्दर विद्युत के संचार का अनुभव तो करता है, परन्तु दूसरे को उसे समझा नहीं पाता, वैसे ही जिसमें पहिले शक्तिसंचार नहीं हुआ ऐसे व्यक्ति को कोई भी कभी शक्ति संचार के कार्य को नहीं समझा पाता परन्तु जिसके भीतर शक्तिसंचार हो रहा है वह उसे पूर्णरूप से अनुभव कर पाता है। इस अनुभव के कार्य को कोई दूसरे को नहीं समझा सकता।

''धार्मिक जीवन की साधना के आरम्भ में ही साधक गुरु की कृपादृष्टि से, मोह की निद्रा से जाग्रत होकर अपने देह रूपी घर को शुद्ध करने के लिये गुरु द्वारा दी हुई शक्ति का शरीर में प्रयोग करता है। उसके शरीर में एक अद्भुत विद्युत शक्ति प्रवाहित होती है। उस शक्ति का मार्ग है मेरुदण्ड, मतिष्क उसका गम्य स्थान है, इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना ये तीनों नाड़ियाँ इस विद्युत शक्ति के प्रवाहित होने के लिये रज्जु हैं। यह विद्युत् जितना ही अधिक शरीर में प्रवाहित होती है उतना ही यह शरीर शुद्ध होता है।'' (श्री विजय कृष्ण गोस्वामीजी कृत आशावती के उपाख्यान से)

मूर्तिपूजा

शिष्य - मुर्तिंपूजा से क्या मुक्ति नहीं होती ?

गुरु - नहीं। जब तक आत्मा का ज्ञान पाकर ब्रह्म की उपासना नहीं की जाती तब तक मोक्ष नहीं होता। उपासना दो प्रकार की है, परोक्ष और प्रत्यक्ष। परोक्ष उपासना को सावलम्ब और प्रत्यक्ष उपासना को निरावलम्ब उपासना कहते हैं। किसी स्थूल वा सूक्ष्म वस्तु का आश्रय लेकर जो ईश्वर वा ब्रह्म की उपासना की जाती है उसे सावलम्ब उपासना कहते हैं। वेदान्त में इसे प्रतीकोपासना कहते हैं।

''प्रतीकोपासनं हि नाम अब्रह्मणि ब्रह्मदृष्टयानुसंधानम्।''

रामानुजस्वामी

अब्रह्म अर्थात् जड़ वस्तु में ब्रह्मभाव का आरोप करके जो उपासना की जाती है उसे प्रतीक उपासना कहते हैं।

शालिग्राम शिला में विष्णु भगवान् का, शिवलिंग में शिवजी का, इसी प्रकार पत्थर, धातु, मिट्टी तथा काठ की बनी मूर्ति में भिन्न भिन्न देवताओं के आविर्भाव को मन में कल्पित करके जो उपासना की जाती है उसे प्रतीकोपासना कहा जाता है। उपनिषदों में अन्न, प्राण, मन, बुद्धि में भी ब्रह्म की भावना करके उपासना करने का उपदेश है। यह भी प्रतीकोपासना है। जिस वस्तु में देवता का आरोप किया जाता है, वह वस्तु उस देवता का प्रतीक होता है। इस प्रतीक उपासना से मुक्ति नहीं होती। निम्न श्रेणी के उपासकों के लिये इस प्रतीकोपासना वा सावलम्ब उपासना की व्यवस्था की गयी है। जिनका मन चंचल रहता है, जिनका चित्त शुद्ध नहीं है, वे लोग प्रत्यक्ष विधि से ब्रह्म की उपासना नहीं कर पाते। स्थिर भाव से आसन में बैठ कर गुरु द्वारा दिये हुए मन्त्र के जप तथा ध्यान धारणादि क्रिया करने की सामर्थ्य उनमें होती नहीं। अतः परम दयालु शास्त्रकारों ने मूर्ति में मन को स्थिर कर पुष्प चन्दन आदि बाह्य उपकरणों द्वारा पूजन करने की विधि दर्शायी है। इस प्रकार मूर्ति पूजा वा प्रतीकोपासना करते करते जब उपासकों का मन स्थिर हो जाता है, चित्त की शुद्धि हो जाती है, तब उनमें प्रत्यक्ष रीति से परमात्मा के ज्ञान के साथ ब्रह्म की उपासना

करने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है। प्रत्यक्ष रीति से ब्रह्मोपासना करने में किसी आश्रय की आवश्यकता नहीं होती। किसी जड़मूर्ति की जरूरत नहीं होती। केवल गुरु द्वारा दिये हुए मन्त्र के जप और ध्यान धारणा आदि क्रिया करने से वह उपासना की जाती है। सद्गुरु से जो मन्त्र पाया जाता है वही भगवान् का नाम होता है। उस के द्वारा ही नामी को पाया जाता है क्योंकि नाम और नामी एक ही हैं। जैसे छोटे से बीज के अन्दर एक बड़ा विशाल वृक्ष सूक्ष्मरूप से अन्तर्निहित रहता है, उसी प्रकार सद्गुरु द्वारा दिये मन्त्र वा नाम के अन्तर में भगवान् गुप्तरूप से निहित होते हैं। जैसे समय आने पर बीज के भीतर से वृक्ष प्रकट होता है, वैसे ही ठीक समय आने पर भगवान् नाम से प्रकट होकर उपासक को कृतार्थ करते हैं। इसीलिये कहा है कि मन्त्र भगवान् की मूर्त्ति है। गुरु प्रदत्त भगवान् के नाम द्वारा जो उपासना की जाती है वही प्रत्यक्ष ब्रह्म उपासना होती है। केवल उसी उपासना द्वारा मुक्ति होती है। यह उपासना निरावलम्ब उपासना है। सावलम्ब वा प्रतीकोपासना से मोक्ष नहीं मिलता यह उपनिषद् और वेदान्त दर्शन में कहा है–

''न प्रतीके नहि सः। ब्रह्मसूत्र'' 4।1।4

न (नहीं) प्रतीके (प्रतीकोपासना में) नहि (निश्चय ही नहीं) सः (वह परमात्मा) (प्राप्त किया जाता है) अथवा, न (ना) प्रतीकेन (प्रतीक द्वारा) हि (निश्चय से) सः (परमात्मा) (प्राप्त किया जाता है) मतलब यह है कि प्रतीकोपासना द्वारा परमात्मा प्राप्त नहीं किया जा सकता है। उस परमात्मा की निरावलम्ब उपासना करने पर ही उसे पाया जाता है। तैत्तरीय उपनिषद् की भृगुबल्ली में प्रतीक उपासना का विषय है। छान्दोग्य, बृहदारण्यक तथा अन्य उपनिषदों में भी प्रतीकोपासना की विधि कथित है।

विद्या और अविद्या

शिष्य - शास्त्र में अविद्या और विद्या शक्ति का उल्लेख है, वे शक्तियाँ क्या हैं?

गुरु - अविद्या और विद्या शक्ति, जिनके नामान्तर हैं अज्ञान और ज्ञान शक्ति, अपरा और पराशक्ति माया और योगमाया ये दोनों ब्रह्म की ही शक्तियाँ हैं। एक ही भगवान् की शक्ति के विभिन्न कार्यों के कारण दो नाम हो गये हैं। जिस शक्ति के द्वारा मनुष्य परमेश्वर से विमुख होकर संसार में फंसता है, कर्मों से बंधता है, वासनाओं में जकड़ जाता है, उसे माया, अविद्या, अज्ञान अथवा अपराशक्ति कहते हैं और जिस शक्ति के द्वारा मनुष्य अन्तर्मुख होकर, भगवत् परायण होकर, धर्म की ओर, भगवान् की ओर चलता है, संसार से, वासनाओं से, कर्म बन्धनों से मुक्ति पाता है, उस शक्ति को विद्या, ज्ञान, परा, अथवा योगमाया शक्ति कहते हैं। शक्ति एक ही है उसके कार्य दो प्रकार के हैं। जो शक्ति जीव को संसार में बद्ध करती है, वासनाओं के वश में करती है, वही शक्ति वासनाओं से मुक्त भी करती है, संसार से उद्धार भी वही करती है। कार्य भेद से एक ही शक्ति के दो नाम हो गये हैं। जड़ जगत में भी केन्द्राभिमुखी और केन्द्रबहिर्मुखी ऐसी दो प्रकार की शक्तियाँ है। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी ग्रह नक्षत्रादि जो सब आकाश मार्ग में नियमित रुप से श्रृंखलाबद्ध रीति से भ्रमण करते हैं ये अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी शक्तियाँ ही उस गति के हेतु हैं। सौरजगत् में जो गतियाँ हो रही हैं, वे इन्हीं अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी शक्तियों द्वारा सम्पन्न हो रही हैं। आधुनिक विज्ञान शास्त्र भी कहता है कि जगत् में शक्ति एक ही है, वही एक शक्ति विभिन्न स्थानों, विभिन्न अवस्थाओं में पृथक् पृथक् कार्य करती है।

भगवान् की मूर्ति

शिष्य - आपने कहा है कि भगवान् जिस पर प्रसन्न होते हैं उसके आगे वे अपने शरीर को, अपनी मूर्त्ति को प्रकट करते हैं। भगवान् की मूर्त्ति किस तरह की होती है यह बात मुझे अच्छी तरह समझा दीजिये।

गुरु - राम, काली, दुर्गा, शिव, गणेश, विष्णु आदि जो सब साकार देवताओं की पूजा हमारे देश में प्रचलित है और शास्त्र में जिनका वृत्तान्त कथित है, वे सब ही भगवान् के भिन्न भिन्न स्वरूप, भिन्न भिन्न मूर्त्तियाँ हैं। असंख्यरूप हैं भगवान के। असंख्य मूर्त्तियाँ में, असंख्य भावों में भगवान् लीला करते हैं, क्रीड़ा करते हैं। भगवान् नित्य पदार्थ हैं, अविनाशी वस्तु हैं। उनकी मूर्त्ति, उनका विग्रह भी नित्य है। राम, काली, दुर्गा आदि उनके ही भिन्न-भिन्न स्वरूपों की मूर्त्तियाँ और विग्रह हैं, नित्य हैं, अविनाशी हैं। भगवान् का विग्रह सच्चिदानन्दमय है, उनकी मूर्त्ति चिन्मय है। भगवान् का देह जड़ पदार्थों से बना हुआ नहीं, यह तुम्हें पहले ही कहा है, भगवान् के विग्रह में जड़ तो छू भी नहीं गये, इसी कारण से ऋषियों ने उन्हें निराकार कहा है। भगवान् और उनके सब स्वरूपों के विग्रह जैसे अविनाशी और नित्य हैं उनके गोलोक आदि धाम और परिकर भी उसी प्रकार से नित्य, अविनाशी चिन्मय और सच्चिन्दानन्दमय हैं। उन का किसी काल में भी विनाश वा ध्वंश नहीं होता। तो भी कोई कोई कहते हैं।

''चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

रामतापनी उपनिषद् के इस श्लोक का उल्लेख करके कहते हैं कि शास्त्र में यह कहा है कि ब्रह्म के रूप काल्पनिक हैं। उपासकों की कार्य सिद्धि के हेतु ब्रह्म के रूप की कल्पना की गयी है। तभी तो देखा जाता है कि ब्रह्म का वास्तविक कोई रूप वा मूर्त्ति नहीं। साधक निराकार भाव को मन में नहीं लाने पाता, उसकी धारणा नहीं कर पाता, इसी कारण से ऋषियों ने अरूप और अमूर्त्ति ब्रह्म के रूपों और मूर्त्तियों की कल्पना की है। यह आपत्ति करने वाले जिस रीति से

श्लोक की व्याख्या करते हैं, वस्तुत: ऐसी व्याख्या ठीक नहीं। वे लोग ''ब्रह्मण:'' इस पद में सम्बन्धार्थ में षष्ठी का प्रयोग मानकर वैसी व्याख्या करते हैं। सम्बन्धार्थ में षष्ठी मानने से इस प्रकार का अर्थ निकलता है– यह सत्य है। परन्तु यहाँ सम्बन्ध के अर्थ मे षष्ठी प्रयोग नहीं; कर्त्ता के अर्थ में षष्ठी है।

''कर्तृकर्मणो: कृति (पाणिनि सूत्र) ''कृद्‌योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी स्यात्।''

कल्पना शब्द कृत् प्रत्यय से बना है। अत: उसके प्रयोग होने पर कर्त्ता के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग है। इस स्थिति में यह अर्थ निकलता है कि सत्यसंकल्प भगवान् द्वारा स्वयं ही अपने रूप की रचना की जाती है।

''तदात्मानं स्वयमकुरुत'' श्रुति:

भगवान् शिव ने तंत्रशास्त्र में यह बात स्पष्ट रूप से कही है-

''साधकानां हितार्थाय ब्रह्म स्त्रीपुंरूषं धत्ते।''

भगवान् ने स्वयं अपने रूप की कल्पना की है। राम, कृष्ण, काली, दुर्गा, शिव, विष्णु आदि अगणित मूर्त्तियों को धारण कर भगवान् इस अनन्त ब्रह्माण्ड में अनन्तरूपों में लीला कर रहे हैं। भगवान् के ये सभी रूप नित्य, शाश्वत, पूर्ण तथा चिन्मय हैं। किसी काल में भी उनका विनाश नहीं होता।

वराह पुराण में भगवान् वराह देव के वचन हैं-

''सर्वे नित्या: शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मन:।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजा: क्वचित्॥
परमानन्दसंदोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वत:।
सर्वे सर्वगुणै: पूर्णा: सर्वदोषविवर्जिता:॥

उस भगवान् के समस्त देह नित्य एवं शाश्वत हैं; उनमें उपचय अपचय नहीं, वे परमानन्दमय, ज्ञानरूप, समस्त गुणों से परिपूर्ण समस्त दोषों से रहित हैं और प्रकृति से उत्पन्न नहीं।

नारदपंचरात्र में भी कहा है-

''कृष्णो नित्य: शरीरी च तस्य तेजो हि वर्त्तते।
तेजोऽभ्यन्तर एवात्र कृष्णमूर्त्ति: सनातन:॥
ध्यायन्ते योगिन: सर्वे तत्तेजो भक्तिपूर्वकम्।
सुपक्वभक्त्या कालेन योगी च वैष्णवो भवेत्।
तेजोऽभ्यन्तररूपं च ध्यायन्ते वैष्णवा: सदा।
दासानां च कुतो दास्यं विना देहेन नारद॥

नारदपंचरात्र 2।8 34-36

भगवान् कृष्ण नित्य हैं और देह युक्त हैं, क्योंकि उनका तेज दिखाई देता है। उस तेज: पुञ्ज के मध्य में ही भगवान् कृष्ण की सनातन मूर्त्ति है। योगीजन उसी तेज का भक्तिपूर्वक ध्यान करते हैं। भक्ति पूर्वक ध्यान करने वाला योगी दीर्घकाल में भक्ति का परिपाक होने पर वैष्णव बन जाता है। वैष्णव जन भी उसी प्रकार तेजोमण्डल के अन्तर में स्थित भगवान् के रूप का ध्यान करते हैं। हे नारद ! यदि भगवान् का देह न हो तो भगवान् के दासों की दासता भला कैसे हो सकती है ? भगवान् के सब धाम भी नित्य हैं-

''तद् विष्णो: परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय:।''

विद्वान अर्थात् ब्रह्म के ज्ञाता उस भगवान् विष्णु के पद अर्थात् धाम का सदा दर्शन करते हैं। पद का यहां अर्थ है धाम।

''न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावक:।
यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं हरे:॥
तद् विष्णो: परमं धाम शाश्वतं नित्यमच्युतम्।
न हि वर्णयितुं शक्यं कल्पकोटिशतैरपि ॥'' पद्मपुराण

भगवान् का परम धाम सूर्य, चन्द्र अथवा अग्नि से प्रकाशित नहीं होता। वहां पहुंच जाने पर वहां से लौटना नहीं होता। विष्णु भगवान् का वह परम धाम शाश्वत, नित्य और अविनाशी है। अरबों कल्पों के दीर्घ काल में भी उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

हमारे समस्त शास्त्रों ने भगवान् की मूर्त्ति, भगवान् के विग्रह को माना है। सच्चिदानन्द विग्रह भगवान् अपने वासस्थान में जिन्हे तद्धाम कहते हैं, उन्हीं गोलोकादिधामों में अपने परिकर जनों के साथ नित्य ही लीला करते हैं। केवल हमारे शास्त्रों में भगवान् को साकार माना गया है- ऐसी बात नहीं। अन्य देशों के शास्त्रों ने भी ईश्वर को साकार कहा है। कुरान और बाइबिल का ईश्वर भी साकार है। आदम के पास भगवान् का आना, स्वर्ग में भगवान् की सभा का वर्णन, भगवान् का सिंहासन पर विराजमान होना, भगवान् की सभा में देवदूतों की उपस्थिति, ऐसे वर्णनों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुरान और बाइबिल में कथित ईश्वर की मूर्त्ति है, विग्रह है, वे साकार हैं, अपने धाम में निवास करते हैं। उनके परिचारक भी हैं। इस विषय में हिन्दूशास्त्रों के साथ उन शास्त्रों की संगति पाई जाती है।

जिन्होंने विधिपूर्वक साधना करके भगवान् को प्राप्त किया है, उनका प्रत्यक्ष दर्शन किया है, उन्होंने उन्हें साकार, सच्चिदानन्द विग्रह वाले, चिन्मयमूर्ति वाले और पुरुष रूप में दर्शन किया है। इस विषय में श्रीमत् गोस्वामीजी महाराज ने लिखा है-

''ईश्वर का देह जड़ पदार्थों से निर्मित नहीं, इसीलिये उन्हें निराकार कहते हैं। परन्तु उनका निराकार सच्चिदानन्द रूप है, जिसका दर्शन ज्ञाननेत्र से किया जा सकता है। जैसे ज्ञाननेत्र हैं वैसे ही ज्ञानकर्ण, ज्ञाननासिका और ज्ञानरसना हैं उनसे सुनना, सूँघना और आस्वादन का अनुभव किया जाता है। ज्ञानचक्षुओं से इस लोक में और परलोकों में जो कुछ भी सत्य है वह प्रत्यक्ष किया जाता है। साधना द्वारा ज्ञानचक्षुओं का विकास किया जाता है।''

पञ्चम पुरुषार्थ

शिष्य - मुक्ति क्या अन्तिम अवस्था है? अथवा मुक्ति के अनन्तर भी कुछ प्राप्ति करने के लिये है?

गुरु - मुक्ति के प्रकरण में तुम्हे ब्रह्मज्ञान की बात कही है। साधक जब ज्योतिर्मय ब्रह्म का दर्शन कर लेता है, तब माया से मुक्त हो जाता है। यह दर्शन सृष्टि की परिधि में होता है। इस के आगे योग की अवस्था है- आत्मा के जरिये से परमात्मा के दर्शन, तदंतर भगवान् की लीला के दर्शन हाते हैं। लीला दर्शन को ही पञ्चमपुरुषार्थ प्राप्ति कहते हैं। विषय अति कठिन है, ध्यान से सुनो-

मनुष्य के धार्मिक जीवन की पांच अवस्थायें हैं; नीति, धर्म, ब्रह्मज्ञान, योग और लीला। इन पांचों अवस्थाओं में से मनुष्य को गुजरना होता है। नीति के अनुसार जीवन व्यतीत करते-करते मनुष्य की प्रवृत्ति धर्म की ओर होती है। तब उसके मन में पुण्योपार्जन करने के हेतु प्रबल इच्छा होती है। उस समय वह यज्ञ, अनुष्ठान देवपूजन आदि धर्मकार्यों को करता है। तदनन्तर उसके मन में मोक्ष पाने की चाह होती है। इस अवस्था में वह शास्त्रविधि अनुसार शास्त्रोक्त उपासना पद्धति को ग्रहण करता है और सद्गुरु द्वारा दीक्षा पाकर साधन भजन में लगता है। भजन करते-करते सब कुसंस्कार नष्ट होकर चित्त की शुद्धि होती है। तदनन्तर वह ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करता है। इस अवस्था में साधक को समस्त भूतों में ब्रह्म के दर्शन होते हैं। ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह श्रुति वचन अब उसके समक्ष प्रत्यक्ष सत्यरूप में प्रकाशित होता है। तब वह ब्रह्मसत्तारूपी सागर में निमग्न हो - अनुपम ब्रह्मनन्द को अनुभव कर धन्य होता है। तदनन्तर आत्मा का परमात्मा से योग होता है; इस स्थिति में साधक अपने आत्मा के अभ्यन्तर परमात्मा के दर्शन करता है। अन्त में भगवान् की लीला का दर्शन होता है। इस स्थित में भगवान् भक्त को अपना रुप प्रकाशित कर उसके साथ अनन्त प्रकार से लीला करते हैं, क्रीड़ा करते हैं। साधक भक्त भगवान् के इस लीला समुद्र में निमग्न हो, विशुद्ध प्रेमानन्द अनुभव कर कृतकृत्य एवं पूर्ण काम हो जाता है। अब उसके लिये कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता।

इस विषय में पूज्यपाद श्री श्री विजयकृष्ण गोस्वामी ने स्वयं लिखा है-

''ऋषियों ने कहा है, प्रथम अवस्था में ब्रह्म का ज्ञान, अर्थात् समस्त भूतों में ब्रह्म का प्रत्यक्ष अनुभव करना। दूसरी अवस्था में योग – आत्मा में परमात्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति। तीसरी अवस्था में भगवान् के साथ साक्षात् सम्बन्ध-उनकी साक्षात् पूजा-अर्चना। इस स्थिति में भगवान् के रूप का दर्शन होता है। उनका वह रूप सत् चित् और आनन्दमय है। वह रूप पंचभूतों से गठित नहीं। रूप इस कारण से कहा है कि उसके लिये अन्य कोई शब्द नहीं।''

साधनावस्था में तीन भाव प्रकट होते हैं। पहिले ब्रह्मभाव। उस भाव में साधक देखता है कि समस्त ब्रह्माण्ड में एक अद्वितीय चैतन्य व्याप रहा है। इसे ब्रह्मज्ञान कहा जाता है। दूसरी अवस्था है योग की। यह हठयोग नहीं; जीवात्मा और परमात्मा का वास्तविक संयोग होता है–इस अवस्था में। तब साधक को अनुभूति होती है कि उसके देह का एक-एक अवयव एक अनिर्वचनीय शक्ति के वश में है। वही शक्ति नीचे जाती है, वही कभी ऊपर उठती है। उसके स्पर्श और गन्ध का अनुभव भी होता है। परन्तु स्पर्श, गन्ध और स्वाद अव्यक्त होते हैं। घी-चीनी खाकर उसके स्वाद को कौन पूर्णतया व्यक्त कर सकता है ? गर्भवती स्त्री जैसे अपने गर्भगत शिशु का अनुभव मात्र करती है, वैसे ही। तीसरी अवस्था है भगद्भाव अर्थात् भगवान् की लीलाओं का दर्शन। तब साधक के समक्ष ब्रह्म अनन्तरूप में दृष्टिगोचर होते हैं। काली, दुर्गा, राम, कृष्ण, ये सब रूप और इनके अतिरिक्त अन्य असंख्य रूप दृष्टिगोचर होते हैं। साधारण व्यक्ति इस जगत् में हो रही ब्रह्म की लीला को जैसे देखता है, वैसे ही अन्य जगतों में भी ब्रह्म जिस जिस भाव से जिस जिस रूप से लीला करते हैं, वह सब साधक के समक्ष प्रकट होता है। पूर्वकाल के ऋषिजन और कलियुग के भी भगवान् बुद्ध आदि महापुरुष जिन्होंने साधन किये थे, उन्होंने ब्रह्म के समस्त रूप प्रत्यक्ष किये थे। इस प्रकार साधक ब्रह्म, आत्मा और भगवान् ब्रह्म के इन तीनों भावों को प्रत्यक्ष कर, ब्रह्मरूपी अनन्तसागर में कूद पड़ता है। तब वह ''एकमेवाद्वितीयम्'–'यह सब कुछ एक ब्रह्म ही है, दूसरा कुछ

नहीं इस अनुभूति को ग्रहण कर सच्चिदानन्दसागर में अपनी सत्ता भुलाकर कभी उसमें तैरता है, कभी डुबकियाँ लगाता है। ''ब्रह्म के तीनों भावों का उल्लेख उपनिषद् में भी मिलता है। ब्रह्म सृष्टि में अन्तर्यामीरूप में, आत्मा में अन्तर्यामीरूप में और अपने रूप में रहता है। जो सृष्टि में अन्तर्यामीरूप में विद्यमान है, उसे विराट् ब्रह्म कहा जाता है। गीता में उसे विश्वरूप कहा है। भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन को यही रूप दिखाया था। जो आत्मा में अन्तर्यामी रूप में है वही परमात्मा है और उपनिषद् ने जिसको स्वयंरुप कहा है उसे ही परब्रह्म कहते हैं।

''ब्रह्मवित् परमाप्नोति शोकं तरति चात्मवित्।
रसो ब्रह्म रसं लब्ध्वानन्दी भवति नान्यथा॥

ब्रह्म को जानने वाला परम पद प्राप्त करता है। आत्मा को जानने वाला शोक से मुक्त होता है। ब्रह्म रसस्वरूप है, उसके रस को पाकर मनुष्य आनन्दित होता है। किसी अन्य उपाय से सच्चा आनन्द नहीं मिलता।

इस श्रुति वचन में ब्रह्म का ज्ञान, योग और भगवत्तत्व ये तीन प्रकार के साधनों का वर्णन है। इन तीनों तत्वों का उल्लेख भगवान् वेदव्यास ने श्रीमद्भागवत में इस प्रकार किया है–

वदन्ति तत् तत्वविदस्तत्त्वं यज् ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति कथ्यते॥

श्रीमद्भागवत 1।2।11

तत्त्व के ज्ञाता विद्वान उस अद्वय ज्ञानतत्त्व को ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् इन नामों से कहते हैं।

इष्ट देवता को भगवान् के रूप में पाकर उनकी लीला में प्रविष्ट होना, सम्मिलित होना - इसी को पञ्चमपुरुषार्थ कहते हैं। इसी पञ्चमपुरुषार्थ को प्राप्त करके जीव कृतकृत्य हो जाता है। फिर उसके लिये कुछ भी प्राप्त करना अवशिष्ट नहीं रहता। यही पराभक्ति की अवस्था है। इस सम्बन्ध में गीता में है-

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।

गीता 18।52

ब्रह्म को पाकर जिसका आत्मा एक बार प्रसन्न हो जाता है, वह सर्वप्रकार से दुःख शोक से, आकांक्षाओं से मुक्त हो जाता है। जो सब जीवों को समदृष्टि से देखता है वही (भाग्यवान्) मेरी परम भक्ति को प्राप्त करता है।

यही उपनिषद् और भागवत का धर्म है। गोस्वामी श्रीमत् विजय कृष्ण महाराज ने इसी धर्म की शिक्षा अपने शिष्यों को दी है।

शिष्य - उपनिषद् में क्या पंचमपुरुषार्थ का उल्लेख नहीं।

गुरु - है क्यों नहीं। तैत्तरीय उपनिषद् में है–

''सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता। ''

तैत्तरीय उपनिषद् ब्रह्मवल्ली अनु.1

मुक्ति के अनन्तर मुक्तात्मा जीव सर्वत्र ब्रह्म के साथ काम्य विषयों को भोगता है।

यहां ब्रह्म शब्द परब्रह्म भगवान् का वाचक है। इसी श्रुति के आधार पर महर्षि वेदव्यास ने ब्रह्मसूत्र की रचना की थी–

''भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च'' ब्रह्मसूत्र 4।4।2।1

मुक्तात्मा की ब्रह्म के साथ केवल भोगमात्र में समता होती है, शक्ति के विषय में समता नहीं होती।

इसी तैत्तरीय श्रुति से ही आचार्य शंकर का एकान्त अद्वैतवाद एकदम से खण्डित हो जाता है। इस श्रुति का स्वाभाविक सरल अर्थ करने पर एकान्त अद्वैतवाद बिल्कुल ही सिद्ध नहीं होता; इसीलिये शंकराचार्य ने इसकी व्याख्या कुछ फेर के साथ की है उनकी व्याख्या सुनो– ब्रह्मभूतों विद्वान ब्रह्मरूपेणैव सर्वान् कामान् सह (युगपत्) अश्नुते''। -शंकर भाष्य

''ब्रह्मभूत विद्वान् ब्रह्मरूप से ही सब भोगों को एक समय में भोगता है।

गौड़ देश के गोस्वामी महात्माओं ने दो प्रकार की उपासना कही है, एक ऐश्वर्यभाव की उपासना व दूसरी मधुरभाव की उपासना। मधुरभाव की उपासना को उन्होंने पंचमपुरुषार्थ कहा है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में भगवान् वेदव्यास ने इसी मधुर भावोपासना की पूर्ण परिपाकावस्था का वर्णन किया है। ब्रजलीला ही मधुर भाव की पूर्ण परिणति है।

प्रभूपाद श्रीमद् विजयकृष्ण गोस्वामी ने इस विषय में लिखा है- ''ऐश्वर्यभाव के उपासक होते हैं– शैव, सौर, गाणपत्य और शाक्त। माधुर्यभाव उपासक होते हैं वैष्णव। रामसीता, लक्ष्मीनारायण, राधाकृष्ण के उपासक यदि ऐश्वर्यभाव के उपासक होते हैं तो उन्हें शाक्त, शैव, सौर, गाणपत्य कहना होगा। काली, दुर्गा, शिव, सूर्य, गणपति और नारायण के उपासक यदि माधुर्यभाव के उपासक हों तो उन्हें वास्तविक वैष्णव कहना होगा। ब्रह्मसंहिता में इसका प्रमाण विद्यमान है। शिव, पार्वती, रामसीता, लक्ष्मीनारायण, ये सब देवता यदि माधुर्यभाव लिये हों तो उनकी उपासना पराधर्म होगी और ऐश्वर्य भाव से उन्हीं की उपासना ईश्वर उपासना होगी। रामप्रसाद के समान वैष्णव कौन होगा'' ?

गोस्वामीजी ने जिसे पराधर्म कहा है वही पंचमपुरुषार्थ है। वैदिक वा ऋषियों के मार्ग बिना पंचमपुरुषार्थ प्राप्त नहीं हो सकता।

शिव, शक्ति, विष्णु आदि देवों की एकता

शिष्य - राम, कृष्ण, काली, शिव, विष्णु आदि सब भगवान् के ही रूप हैं यह बात कही है। इन स्वरूपों में कुछ तारतम्यता है क्या ?

गुरु -राम, कृष्ण, काली, दुर्गा, शिव, विष्णु, सूर्य, गणेश आदि जो भगवान् के स्वरूप हैं, उनमें कोई भेदभाव वा तारतम्य नहीं। ये सभी ब्रह्म हैं। साधकों के भाव के अनुसार वे भिन्न-भिन्न रूप से प्रकट हुए हैं। देखो, एक ही अग्नि नाना स्थानों में नाना रूपों में प्रकट होकर नाना प्रकार के कार्य करती है। किसी स्थान में एक ही अग्नि द्वारा होम कार्य होता है, किसी अन्य स्थान में रसोई का काम, किसी स्थान में यन्त्रों के चलाने का कार्य, किसी अन्य स्थान में उसी अग्नि से अन्य कार्य सम्पन्न किया जाता है। भिन्न भिन्न स्थानों की भिन्न भिन्न अग्नि एक ही अग्नि है। जो एक अद्वितीय अग्नि समष्टि रूप में सर्वत्र व्याप्त हो रही है, वही समष्टि अग्नि भिन्न भिन्न रूपों में प्रकाशित होकर अनेक कार्य करती है। वास्तव में समस्त अग्नि एक ही पदार्थ है। इसी तरह ब्रह्म नाना रूपों में नाना मूर्त्तियों में प्रकट होकर नाना प्रकार के कार्य करता है। उपासना भेद से भिन्न भिन्न रूपों में भक्तों की कामनाओं को पूर्ण करता है। परन्तु सभी देव एक ब्रह्म के रूप हैं, एक ब्रह्मतत्व हैं।

राम, कृष्ण, काली, दुर्गा, शिव, विष्णु, सूर्य, गणेश आदि सभी ब्रह्म हैं। एक ब्रह्म के ही भिन्न भिन्न रूप हैं। अतः भगवान् की इन सब मूर्त्तियों में वस्तुतः कुछ भी भिन्नता नहीं। ये सभी मूर्त्तियाँ नित्य हैं। विरजा के दूसरे पार में माया के अधिकार क्षेत्र से बाहर, गोलोक, महावैकुण्ठ, कैलाश, अयोध्या, सूर्यलोक, गणेशलोक, आदि नित्य धामों में अपने-अपने धाम में अपने अपने परिवार वर्ग के साथ नित्य ही लीला करते हैं।

''त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्।
सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् स शान्तिमधिगच्छति॥''

श्रीमद्भागवत 4।7।54

जो मनुष्य एक तत्वमय तीनों देवताओं में जो सर्वभूतों के आत्मा रूप हैं, भेदभाव नहीं देख पाता वही शान्ति प्राप्त करता है।

''सौराश्च शैवगाणेशा वैष्णवा शक्तिपूजकाः।
मामेव ते प्रपद्यन्ते वर्षाम्भः सागरं यथा॥
एकोऽहं पञ्चधा भिन्नः क्रीडार्थं भुवने किल।

पद्मपुराण

वर्षा का जल जैसे सब ओर से इकट्ठा होकर समुद्र में ही गिरता है, वैसे ही सौर, शैव, गाणपत्य, वैष्णव और शाक्त सभी मुझे प्राप्त होते हैं।

''यो ब्रह्मा स हरिः प्रोक्तो यो हरिः स महेश्वरः।
महेश्वरः स्मृतः सूर्यः सूर्यः पावक उच्चते॥
पावकः कार्त्तिकेयोऽसौ कार्त्तिकेयो विनायकः।
गौरी, लक्ष्मीश्च सावित्री, शक्तिभेदाः प्रकीर्तिताः।
देवं देवीं समुदृिश्य न कुर्यादन्तरं क्वचित्।
तत्तद्भेदो न मन्तव्यः शिवशक्तिमयं जगत्॥

भविष्योत्तरपुराण

जो ब्रह्मा हैं वे ही विष्णु हैं, जो विष्णु हैं वे ही शिव हैं, जो शिव हैं वे ही सूर्य हैं जो सूर्य हैं वे ही अग्नि हैं, वे ही कार्त्तिकेय हैं, जो कार्त्तिकेय हैं वे ही गणेश हैं। इसी प्रकार से गौरी, लक्ष्मी, सावित्री आदि एक ही शक्ति के भिन्न भिन्न नाम हैं। इन सब में भेद नहीं मानना चाहिये। समस्त जगत शिव और शक्तिमय है।

या काली सैव कृष्णः स्यात् यः स एव कालिका।
कदाचित् पृथ्वीमध्ये, कदाचित् वर्हिमण्डले॥

जो काली है वही श्रीकृष्ण है, जो कृष्ण है वही काली है, कभी वह पृथ्वी पर और कभी अग्नि में विराजित होती है।

तब वक्षसि राधाऽहं रासे वृन्दावने वने।
महालक्ष्मीश्च वैकुण्ठे पादपद्मार्चने रता॥
श्वेतद्वीपे सिन्धुकन्या विष्णोरुरसि भूतले।
ब्रह्मलोके च ब्रह्माणी वेदमाता च भारती।।

नारदपंचरात्र प्रथम रात्र अध्याय 12

पार्वती द्वारा श्रीकृष्ण स्तुति–

पार्वती श्रीकृष्ण को कहती है, मैं वृन्दावन में राधा होकर रास में तुम्हारे वक्ष: स्थल पर क्रीड़ा करती हूं, महालक्ष्मी होकर महाविष्णु रूप में आपके चरणों की सेवा करती हूं। श्वेतद्वीप में और पृथ्वी पर मैं ही समुद्र की कन्या लक्ष्मी होकर विष्णु के हृदय में निवास करती हूं। मैं ही ब्रह्म लोक में ब्रह्माणी और वेदमाता भारती हूं।

महादेवोवाच–

श्रीकृष्णोरसि या राधा तद्वामांशेन संभवा।
महालक्ष्मीश्च वैकुण्ठे सा च नारायणोरसि॥
सरस्वती सा च देवी विदुषां जननी परा।
क्षीरोदसिन्धुकन्या सा विष्णूरसि च मायया॥
सावित्री ब्रह्मणो लाके ब्रह्मवक्ष:स्थलस्थिता।
पुरा सुराणां तेज:सु साऽऽविर्भूता दया हरे:।
स्वयं मूर्त्तिंमती भूत्वा जघान दैत्यसंघकान्॥
ददौ राज्यं महेन्द्राय कृत्वा निष्कंटकं पदम्।
कालेन सा भगवती विष्णुमाया सनातनी।
बभूव दक्षकन्या च परं कृष्णाज्ञया मुने॥
त्यक्त्वा देहं पितुर्यज्ञे ममैव निन्दया मुने।
पितृणाँ मानसि कन्या मेना कन्या बभूव सा।
आर्विभूता पर्वते सा तेनेयं पार्वती सती।
सर्वशक्तिस्वरुषा सा दुर्गा दुर्गतिनाशिनी॥

नारदपंचरात्र द्वितीय रात्र षष्ठ अध्याय 14-20

महादेव ने कहा - श्रीकृष्ण के वाम भाग से उत्पन्न जो राधा उनके वक्ष स्थल पर निवास करती है, वही वैकुण्ठ में महालक्ष्मी होकर नारायण के वक्ष:स्थल पर वास कर रही है। वही पुन: विद्वज्ज्नों की माता सरस्वती है। वह माया द्वारा क्षीर समुद्र की कन्या होकर विष्णु

के वक्ष:स्थल पर वास करती है। वही सावित्री होकर ब्रह्मा के वक्ष:स्थल पर वास करती है। प्राचीन काल में उसी ने विष्णु भगवान् की मूर्त्तिमती दया के रूप में प्रकट होकर दैत्यों का संहार कर इन्द्र को निष्कन्टक राज्य और इन्द्रपद प्रदान किया था। बहुत समय बीतने पर उसी सनातनी भगवती विष्णुमाया ने श्रीकृष्ण के आदेश से दक्ष की कन्या के रूप में जन्म लिया। पीछे मेरी निन्दा सुनकर पिता के यज्ञ में शरीर छोड़कर उसने पितृगण की मानसी मेनका नाम की कन्या होकर जन्म लिया। पर्वत में प्रकट हुई थी। इसीलिये उसे पार्वती कहा जाता है। वही दुर्गति का विनाश करने वाली सर्वशक्तिस्वरूपा दुर्गा है।

''उभयो: प्रकृतिस्त्वेका प्रत्ययभेदेन भिन्नवद् भाति
कल्पयति कश्चिन् मूढ़ो हरिहरभेदं विनाशार्थम् ॥''

(बिना शास्त्रं वा)

हृ धातु के साथ इन् प्रत्यय लगाने से हरि और हृ धातु के णक् प्रत्यय लगाने से हर शब्द सिद्ध होता है। इन दोनों शब्दों के प्रकृति अर्थात् धातु एक हैं। केवल प्रत्यय भिन्न लगते हैं। मूढ़ मनुष्य हरि और हर में भेद मानकर अपना विनाश करते हैं।

दूसरा अर्थ - हरि और हर दोनों की प्रकृति एक है अर्थात् दोनों की सामर्थ्य, भगवत्ता एक समान है। केवल प्रत्यय अर्थात् विश्वास के भेद से वे भिन्न से प्रतीत होते हैं। मूढ़ मनुष्य जो उन दोनों में भिन्नता की कल्पना करते हैं, वही कल्पना उनके विनाश का कारण होती है।

इन देवताओं के देह, धाम और परिकर सभी नित्य, सच्चिदानन्दमय और चिन्मय हैं। ये सभी मुक्ति को देने वाले हैं। भागवत में लिखा है कि भगवत्तत्व एक और अद्वितीय है। राम कृष्णादि भगवान् के स्वरूप भी अभिन्न और एक हैं। उपासना भेद के कारण साधक के समक्ष भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट होकर ये सभी भिन्न-भिन्न फल देते हैं।

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्वं यज् ज्ञानमद्वयम्।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

श्रीमद्भागवत 1।2।11

तत्त्व के ज्ञाता जिस एकमात्र अद्वितीय ज्ञानतत्त्व को तत्त्व कहते हैं, वह अद्वय तत्त्व ही ब्रह्म परमात्मा और भगवान् इन नामों से कहा जाता है।

''मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युतः।

रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात् तथाच्युतः॥

नारदपंचरात्र

मणि जैसे स्थान भेद से नील, पीत आदि भिन्न वर्णो का हो जाता है वैसे ही साधक के ध्यान भेद से अच्युत भगवान भिन्न-भिन्न रूप धारण करते हैं। योगिनीतंत्र में भगवान् शंकर ने कहा है-

''ये यथा मां प्रपद्यन्ते ते तथा फलभागिनः।''

और भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने भी वही बात कही है-

''ये यथा मां प्रपद्यते तांस्तथैव भजाम्यहम्।''

गीता 4।11

इन दोनों महावाक्यों का एक ही अर्थ है - जो व्यक्ति जिस भाव से भगवान् की उपासना करता है, भगवान् उसे उसकी उपासना के अनुरूप ही फल देते हैं।

इस सम्बन्ध में स्वर्गीय कृष्णानन्द स्वामी का एक सुन्दर गान है- ध्यान लगाकर सुनो-

मन करिस् ने गण्ड गोल।
एक बार मिटिये सन्द मनेर द्वन्द
आनन्दे बलो हरि बोल।
छेड़े खूँटि नाटि मयला माटि
मनटि खाँटि करे तोल

देख् पांच पथे एक रंगेर् मानुष
करेच्छे लीला केवल॥
औरे कालो धलो यतो बोलो
पुरुष मेये से-ई सकल
नाना बूलि बाजाय ढूलि
बाजे किन्तु एकई ढोल॥
ओरे पांच घाटे एक गंगा वटे
ठोरे ठोरे बोझो पागल
परिब्राजक बले, पांच रूपे एक
आलो करे रंग महेल।।

रे मन तु यह गड़बड़ मत कर ! संशयों और द्वन्द्वों को एकदम मिटाकर, आनन्द से बोल-हरिबोल ! ममता की -इस मैल-मिट्टी को दूर कर मन को निर्मल कर डाल। देख ! पांचो पथों में एक ही रंग के मानुष हैं जो अपनी अपनी लीलायें कर रहे हैं। वह काला है, वह गोरा है, जो भी कहो, है तो सभी नर और नारी। वह टोली अनेक स्वरों में गा रही है, परन्तु ढोल एक ही बज रहा है। अरे ! घाट पांच हैं, परन्तु एक ही गंगा सभी स्थानों में बहती है–यह समझ ले। अरे पगले ! परिब्राजक कहता है–पांचों वर्णों में एक ही आत्मा हृदय मन्दिरों को उज्ज्वल कर रहा है।

''गोलोक, वृन्दावन, कैलाश इन नित्यधामों में नित्य देवता विराजमान हैं। राधा-कृष्ण, रामसीता, हरगौरी ये सब एक ही देवता हैं। एक ही इनके विग्रह हैं। साधक की भावानानुसार भिन्न भिन्न रूपों में दर्शन देते हैं। जैसे किसी क्रिश्चियन भक्त ने कालीघाट की काली मूर्त्ति को और दक्षिणेश्वर की आनन्दमयी मूर्त्ति को देख कर ईसा के दर्शन प्राप्त किये थे।''

(प्रभुपाद गोस्वामी श्री श्री विजयकृष्णजी के वचन)

विरजा

शिष्य - आपने जो सब कहा है उसमें से कुछ विषय मैं समझ नहीं पाया।

गुरु - कौन कौन से विषय तुम नहीं समझ पाये हो ?

शिष्य - विरजा किसे कहते है ?

गुरु - शास्त्र में विरजा को नदी कहकर उल्लेख किया है। कौषीतिकी उपनिषद् में विरजा की कथा है। गर्गसंहिता, पद्मपुराण ब्रह्मवैवर्तपुराणादि में भी विरजा की कथा मिलती है। एक ओर मायामय ब्रह्माण्ड, दूसरी ओर प्रकृति के क्षेत्र से बाहिर चिन्मय गोलोक आदि धाम हैं, मध्य भाग में विरजा नाम की नदी है। पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि जो स्थूल जगत दृष्टिगोचर हो रहा है और इन्द्रलोक, बरुणलोक, अग्निलोक, पितृलोक, जनलोक, तयोलोक, सत्यलोक आदि जो सब सूक्ष्मलोक दृष्टि के गोचर में नहीं हैं, ये सभी मायामय सृष्टि की परिधि में हैं। महाप्रलय के समय ये सब लोक नष्ट हो जाते हैं। गोलोक आदि जो सब धाम चिन्मय हैं वे प्रकृति के क्षेत्र से बाहर और नित्य हैं। वहां पर माया का कोई अधिकार नहीं, वहां काल की प्रभुता नहीं। वे सब धाम चिन्मय और विभु हैं। भगवान् का विग्रह जिस प्रकार चिन्मय और विभु है, उनके वास स्थान गोलोकादि भी वैसे ही हैं। जैसे भगवान् इच्छा करने से ही अपने को अवतरित कर सकते हैं वैसे ही ये सब धाम भी अपने को अवतरित कर लेते हैं। प्रकृति के क्षेत्र में जब प्रलय होता है तब ये नष्ट नहीं होते। पृथ्वी में जो ब्रजमण्डल है वह अप्राकृत गोलोक धाम पृथ्वी में आ गया था। बाद में भगवान् ने अवतार लिया। शास्त्र में ब्रजभूमि को प्रकृति के क्षेत्र से बाह्य, चिन्मय और चिन्तामणि भूमि कहा है। वहां के वृक्षलता सब कल्पवृक्ष और कल्पलता हैं। जो भी जीव जन्तु हैं सभी अप्राकृत और चिन्मय हैं। साधारण दृष्टि से ब्रजभूमि प्रपंचमय, जड़मय और प्राकृतिक दिखाई देती है परन्तु ब्रजभूमि प्राकृतिक और प्रपंचमय नहीं है। दिव्य दृष्टियुक्त भगवद्भक्त ब्रजभूमि को अप्राकृतिक और चिन्मयरूप में देखते हैं। जैसे तलवार आदि शस्त्र खोल के भीतर में गुप्त रहते हैं, लोगों की दृष्टि में

नहीं आते, जब तक खोल को खोला नहीं जाता; आवरण को दूर नहीं किया जाता तब तक उस शस्त्र को देखा नहीं जा सकता। उसी प्रकार भगवान् ने भी अपने परमप्रिय गोलोकधाम को, चिन्मय वृन्दावन की भूमि को प्रपञ्च के परदे में छिपा कर प्रकृति के खोल में लुकाकर साधारण जन की दृष्टि से दूर कर रक्खा है। जो जन भगवान् के भक्त हैं, उनके प्रिय हैं, उनको खोल हटा कर अपने अप्राकृत धाम का दर्शन कराते हैं। तब भक्त देखते हैं कि अप्राकृतिक गोलोकधाम और पृथ्वी का ब्रजमण्डल एक ही है। यह वृन्दावन, यह यमुना नदी, यह गोवर्द्धन और गोलोक में स्थित वृन्दावन, यमुना गोवर्द्धन एक ही हैं। उस अप्राकृतिक गोलोकधाम और ब्रजमण्डल में कुछ भी भेद नहीं। भगवान् का परमश्रेष्ठ गोलोक धाम नित्य है। वहाँ महाप्रलय का अधिकार नहीं।

''जलप्लुतञ्च विश्वौघं लये प्राकृतिके ध्रुवम्।
आब्रह्मलोकपर्यन्तं परं कृष्णालयं बिना।''

नारदपंचरात्र 1।14।21

नित्यं मे मथुरां विद्धि वनं वृन्दावनं तथा।
यमुनां गोपकन्याश्च तथा गोपालबालका:॥
ममावतारो नित्योऽयमत्र मा संशयं कृथा:॥

पद्मपुराण पातालखण्ड

जब प्राकृतिक प्रलय होता है तब श्रीकृष्ण के धाम गोलोक को छोड़ कर ब्रह्मलोक पर्यन्त यह समस्त ब्रह्माण्ड जल से प्लावित हो जाता है।

मेरी मथुरा, वृन्दावन, यमुना, गोपकन्या और गोप बालक तथा मेरा अवतार नित्य हैं। इस विषय में सन्देह मत करो।

अयोध्या, द्वारका आदि सब धाम भी वृन्दावन की भांति चिन्मय और नित्य हैं। इन सब चिन्मय धामों का विस्तृत विवरण पद्मपुराण के उत्तराखण्ड में तथा वराहपुराण आदि में है।

गर्गसंहिता में लिखा है कि भगवान् ने जब ब्रह्मा से कहा– 'भूभार दूर करने के लिये मैं पृथ्वी पर अवतार लूँगा।'' तब राधारानी ने भगवान् से कहा; - ''मै अकेली नहीं रह सकूँगी।'' राधारानी की बात सुनकर भगवान् बोले कि तुम्हें भी अवतार लेना होगा। तुम्हे छोड़ कर क्या मैं अकेला अवतार ले सकता हूं ? तब राधारानी ने कहा, ''जहां वृन्दावन, यमुना और गोवर्द्धन नहीं ऐसे स्थान में मैं नहीं जाऊँगी। वहाँ जाने से मुझे सुख नहीं मिलेगा।'' राधारानी की यह बात सुनकर भगवान् ने गोवर्द्धन पर्वत, यमुना नदी और वृन्दावन धाम को पृथ्वी पर भेज दिया।

''यत्र वृन्दावनं नास्ति यत्र न यमुना नदी।
यत्र गोवर्द्धनो नास्ति तत्र मे न मनः सुखम्॥
वेदनाग क्रोश भूमिं स्वधाम्नः श्रीहरिः स्वयम्।
गोवर्द्धन श्च यमुनां प्रेषायामास भूपरि॥

गर्गसंहिता गोलोकखण्ड

जहाँ वृन्दावन, यमुना, और गोवर्द्धन नहीं ऐसे स्थान में मुझे सुख नहीं होगा। भगवान् ने चौरासी कोस ब्रजधाम, यमुना नदी और गोवर्द्धन पर्वत को अपने धाम से पृथ्वी पर भेज दिया।

विरजा नदी अन्तराल में स्थित होकर, मायामय ब्रह्माण्ड से माया के अधिकार क्षेत्र से गोलोक धाम की पृथक्ता बनाये रखती है। शास्त्र में विरजा को नदी नाम से उल्लिखित किया है अवश्य, परन्तु वह किस प्रकार की है यह देखे बिना अनुभव नहीं किया जा सकता। पृथ्वी की भांति वहाँ स्थूल पदार्थ तो है नहीं; अतः विरजा नदी होकर भी पृथ्वी की जड़ नदी की भाँति नहीं। विरजा का समस्त स्वरूप चिन्मय एवं अतिसूक्ष्म है।

ब्रह्मानन्द

शिष्य - ब्रह्म को पाकर साधक किस प्रकार का आनन्द अनुभव करता है?

गुरु - साधक ब्रह्म को पाकर ब्रह्मानन्द अनुभव कर कृतार्थ हो जाता है।

शिष्य - ब्रह्मानन्द किस प्रकार का होता है?

गुरु - ब्रह्मानन्द क्या है? यह किसी को समझाया नहीं जा सकता। जब तक स्वयं उस का अनुभव नहीं हो तब तक वह ज्ञान नहीं हो सकता। तौ भी मैं तुम्हे मोटे तौर पर उसकी बात कहता हूं। जीव अपने आँख, कान, जिह्वा, हाथ, पैर आदि सब इन्द्रियों द्वारा जितने प्रकार के सुखों को भोगता है, ब्रह्मानन्द पाकर वह जीव उन सुखों का अनन्त गुणा भोगता है। अनन्त असीम ब्रह्मानन्द की तुलना में पार्थिव सुख बहुत ही क्षुद्र है। जैसे अपार समुद्र की तुलना में एक छोटा सा ओस का कण। और ब्रह्मानंद क्लेश शून्य है उस में दुःख का लेश नहीं। पार्थिव आनन्द क्लेशयुक्त और दुःख मिश्रित है।

बृहदारण्यक और तैत्तरीय उपनिषदों में ब्रह्मानन्द का वर्णन मिलता है। दोनों उपनिषदों का वर्णन एक ही प्रकार का है। अतः केवल वृहदारण्यक उपनिषद् का वर्णन तुम्हारे आगे कहता हूं।

''सलिल एको दृष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्यः। एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा संपदेषोऽस्य परमो लोक एषोस्य परम आनन्दः एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।''

''स यो मनुष्यानां राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वै र्मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नतमः स मनुष्यानां परम आनन्दः। अथ ये शतं मनुष्यानामानन्दाः स एकः पितृणां जितलोकानामानन्दः, अथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एक कर्मदेवानामानन्दः, ये कर्मणा देवत्वमभिसपद्यन्ते, अथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दः, यश्च क्षोत्रियोऽवृजनोऽकामहतः, अथ ये

शतमाजानदेवानामानन्दाः स एक प्रजापतिलोक आन्नदो यश्च श्रोत्रियोऽवृजनोऽकामहतः, अथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृतजनोऽकामहतः अथैषएव परम आनन्दः, एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होबाच याज्ञवल्क्यः।''

बृहदारण्यक उपनिषद् 4।3।32-33

सम्प्रसाद के समय (अर्थात् ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होने पर) आत्मा जल की भांति निर्मल, एकदृष्टि और अद्वैत हो जाता है। जीव की यह अवस्था ही आत्मा का ब्रह्मलोक है। यही परम गति है, यही परमोच्च कोटि की सम्पत्ति है। यही आत्मा का परम आनन्द है। इस आनन्द की एक मात्रा को, एक बिन्दु को समस्त प्राणी भोगते हैं। राजर्षि जनक को महर्षि याज्ञवलक्य ने यह उपदेश दिया था।

सब मनुषयों में जो कोई सब की तुलना में समृद्धिशाली और अन्य सब की तुलना में अधिक भोगसम्पन्न होता है वह सबका अधिपति होता है, ऐसे मनुष्य के जो सब आनन्द होते हैं वही मनुष्य जाति का एक आनन्द हुआ। मानुषों के एक सौ आनन्द जितना पितरों का एक आनन्द होता है, पितरों के एक सौ आनन्द के बराबर गंधर्वलोक का एक आनन्द होता है। गंधर्वलोक के एक सौ आनन्द के बराबर कर्मदेवों (जिन्होने शुभ कर्मो से देवलोक पाया है) का एक आनन्द होता है। कर्म देवों के एक सौ आनन्द के बराबर प्रजापति का आनन्द होता है। प्रजापतिलोक के एक सौ आनन्द के बराबर ब्रह्मलोक का एक आनन्द होता है। ब्रह्मानन्द इससे ऊपर है। वह अपार है– सीमा रहित है। गणना द्वारा उसका निश्चय नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में भगवान् शंकराचार्य ने भाष्य में लिखा है-

अतः परं गणितनिवृतिः, एषः परम आनन्द इत्युक्तः, यस्य च परमापन्दस्य ब्रह्मलोकाद्यानन्दाः मात्रारुद्धेरिव विप्रुषःएवं शतगुणोत्तरात्तर वृध्द्युनुपेताः आनन्दाः यत्र एकतां यान्ति, यश्च श्रोत्रियप्रत्यक्षः अथ एष एव संप्रसादलक्षणः परम आनन्दः।

इससे आगे गणित की संख्या नहीं जाती। यही परम आनन्द है। यह जो परम आनन्द की बात कही है, ब्रह्मलोकादि लोकों के आनन्द उस परम आनन्द के कण मात्र हैं जैसे समुद्र की तुलना में एक बिन्दु।

इस प्रकार सौ सौ गुणा करके बढ़ायी हुई ये आनन्द राशियाँ जहां एक हो जाती हैं, जो ब्रह्म को जानने वालों के लिये प्रत्यक्ष सिद्ध होती हैं। वह संप्रसाद नाम का परम आनन्द है। वही ब्रह्मानन्द है।

अवतार तत्व

शिष्य - अवतार तत्व क्या है? भला भगवान् अवतार क्यों लेते हैं? अवतार के सम्बन्ध में जानने योग्य विषय मुझे समझा दीजिये।

गुरु- तुम्हें पहले कहा है कि भगवान् गोलोक आदि विभिन्न धामों में राम कृष्णादि विभिन्न विभिन्न स्वरूपों में स्थित होकर लीला करते हैं। भगवान् की ये सब लीलायें नित्य हैं। अनादि काल से लीलायें चल रही हैं और अनादि काल तक आगे भी चलती रहेंगी। इन सब लीलाओं में कभी विराम नहीं होता। भगवान् के राम, कृष्ण आदि रूप उनके गोलोक, वैकुण्ठ आदि धाम भी नित्य हैं-यह भी तुम्हें कहा है।

भगवान् गोलोकादि चिन्मय नित्यधामों में जो विभिन्न मूर्त्तियों में स्थित होकर नित्य लीला करते हैं, उन लीलाओं को अप्रकट लीला कहते हैं। अप्रकट का अर्थ है जो प्रत्यक्ष नहीं हो रही है। भगवान् की ये अप्रकट नित्य लीलायें जन साधारण के दृष्टिगोचर नहीं, अतएव इन्हें अप्रकट नित्य लीला कहते हैं। भगवान् जब पृथ्वी पर अवतार लेकर भूभार-हरण, धर्म-संस्थापन, भक्तवाञ्छापूरण इत्यादि मानवीय लीलायें करते हैं, तब उन्हें प्रकट अर्थात् व्यक्त लीला कहते हैं। ये सब लीलायें जनसाधारण के समक्ष होती हैं, अतः इन्हे प्रकट लीला कहा जाता है। भगवान् अपने अप्राकृत नित्य धामों में जो सब नित्य लीलायें करते हैं, समय समय पर आवश्यकतानुसार विभिन्न ब्रह्माण्डों में भी वैसी ही लीलायें सम्पन्न करते हैं। राम, नृसिंह, मत्स्य, कूर्म आदि विभिन्न मूत्तियों में भगवान् जो सब अव्यक्त लीलायें करते हैं, समय-समय पर राम, नृसिंह आदि की उन्हीं लीलाओं को पृथ्वी पर प्रकट करते हैं। वे कभी श्रीकृष्ण रूप में, कभी राम के रूप में कभी अन्य किसी मूर्ति में प्रकट होकर पृथ्वी पर लीला करते हैं। अतः भगवान् की लीलायें दो प्रकार की हैं- प्रकट और अप्रकट।

प्रकटाऽप्रकटा चेति लीला सेयं द्विधोच्यते।
सदानन्तैः प्रकाशैः स्वैर्लीलाभिश्च स दीव्यति॥
तत्रैकेन प्रकाशेन कदाचित् जगदन्तरे।
सहैव सपरिवारै र्जन्मादि कुरुते हरिः॥

लघुभागवतामृत

प्रकट ओर अप्रकट भेद से भगवान् की लीला दो प्रकार की है। श्रीकृष्ण सदा अनन्तप्रकाश लीला करते रहते हैं। कभी वे उसी अनन्तप्रकाश के मध्य में एक बार अपने परिकार वर्ग के साथ इस जगत में प्रकट होकर लीला करते हैं।

प्रपञ्चगोचरत्वेन सा लीला प्रकटा स्मृता।
अन्यास्त्वप्रकटा भान्ति ता अदृश्याश्चऽगोचराः॥

लघुभागवतामृत

प्रपञ्च के गोचर में होने पर उस लीला को प्रकट लीला कहते हैं। इसके अलावा और सब लीलायें अप्रकट लीला कहलाती है। अप्रकट लीला प्रपञ्च के गोचर नहीं होती।

जिस समय मनुष्य समाज में धर्म निर्बल-निस्तेज होता है, अधर्म प्रबल होता है, असुर और दस्यु जैसे नृपति पृथ्वी पर प्रकट होकर अनेक प्रकार से उपद्रव करने लगते हैं, उस समय धर्म की स्थापना और अधर्म के विनाश के लिये अथवा अन्य प्रयोजन सिद्ध करने के लिये भगवान् पशु, पक्षी अथवा मनुष्य देह धारण कर के अवतार लेते हैं।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभावाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानि र्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधुनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

गीता 4 । 6-8

मैं अज, अव्ययात्मा और समस्त भूतों का ईश्वर होकर भी अपनी प्रकृति पर आरूढ़ होकर अपनी माया द्वारा जन्मग्रहण करता हूँ। जिस समय धर्म का ह्रास और अधर्म की वृद्धि होने लगती है उसी समय मैं अपने को सृजन कर लेता हूं। पुण्यात्माओं की रक्षा और पापियों के विनाश और धर्म को पुनः संस्थापित करने के हेतु मैं युग-युग में अवतार लेता हूं।

गोविप्रसुरसाधुनां छन्दसामपि चेश्वरः।
रक्षामिच्छंस्तनुर्धत्ते धर्मस्यार्थस्य चैव हि॥

भागवत 8।24।5

यदा यदा हि धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः।
तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः॥

वही 9।24।56

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषदेहमाश्रितः।
भजते तादृशीः क्रीड़ा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥

वही 10। 33 । 37

गौ, ब्रह्मण, देवता, साधु, वेद, धर्म तथा अर्थ की रक्षा करने के लिये भगवान् देह धारण करते हैं। जिस समय धर्म का क्षय और पाप की वृद्धि होती है, उसी समय भगवान् अपने को प्रकट करते हैं। भक्तों पर अनुग्रह करने के निमित्त भगवान् मनुष्य देह धारण कर लीलायें करते हैं जिन्हें श्रवणकर के भक्त उनमें अनुरक्त होता है।

उपासकानां कार्यार्थं श्रेयसे जगतामपि।
दानवानां विनाशाय धत्से नानाविधास्तनुः॥
साकाराऽपि निराकारा मायया बहुरूपिणी।

महानिर्वाणतंत्र 4। 16, 34

उपासकों की कार्य सिद्धि, जगत् के मंगल और दानवों के विनाश के लिये हे देवी ! आप नाना प्रकार की मूर्त्तियाँ धारण करती हैं। अपनी योगमाया के द्वारा आप साकार और निराकार रूप धारण करती हैं।

एक अखण्ड तेज पदार्थ वा अग्नि सब स्थानों में, समस्त पदार्थों के अन्तर में विद्यमान है। उस अग्नि को कोई देख नहीं पाता। वही अग्नि जब किसी स्थान में प्रकाशित होती है, प्रज्वलित होती है तब सब लोग देख पाते हैं। भगवान् के अवातार भी वैसे ही हैं। सर्वव्यापी भगवान् अवतार लेकर जनसाधारण की दृष्टि में प्रत्यक्ष होते हैं।

नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्।
तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रुयतां मम॥
देवानां कार्यसिद्धियर्थमाविर्भवति सा यदा।
उत्पन्नेति तदालोके सा नित्याऽप्यभिधीयते॥

दुर्गासप्तशती 1। 64-65

वह जगत्स्वरूपा देवी नित्य है और समस्त चराचर विश्व में व्याप्त हो रही है। तथापि उसकी उत्पत्ति अनेक प्रकार से होती है वह मेरे से सुनो। देवों के कार्य साधने के लिये वह नित्य रहने वाली जब प्रकट होती है तब 'वह प्रकट हो गयी' ऐसा कहा जाता है।

शास्त्रों में कहा है भगवान् की लीलायें सदा चलती रहती हैं। तैलधारा की भांति अटूट प्रवाह से भगवान् की लीलायें नियत समय पर होती रहती हैं। अव्यक्त नित्य लीलाओं और अनन्त ब्रह्माण्डों में चल रही व्यक्त लीलाओं को लक्ष्य करके यह बात कही गयी है। ब्रह्माण्डों की अनन्त संख्या है। उन अनन्त ब्रह्माण्डों में से हजारों ब्रह्माण्डों में अनेक सत्य, द्वापर, त्रेता, कलि आदि युग प्रवर्तमान होते रहते हैं। मन्वन्तरों के विषय में भी वैसा ही है। पृथ्वी पर इस समय वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है। हजारों ब्रह्माण्डों में इस समय भिन्न-भिन्न मन्वन्तर प्रवर्त्तमान हैं! इसलिये हजारों ब्रह्माण्डों में पृथक् पृथक् मन्वन्तरों के अवतार हो रहे हैं। ये सब प्रकट और अप्रकट लीलायें अबाध गति से चल रही हैं, इसी कारण ऋषिगण ने यह कहा है कि भगवान् की लीला नित्य और निरन्तर है।

गौड़ देश के गोस्वामी गुरुजनों ने अवतार तत्व की बहुत विचारणा की है। उनके कुछ विचार कहता हूं, सुनो।

लघुभागवतामृत ग्रन्थ में श्रीमद् सनातनगोस्वामी ने भगवान् के अवतार छः प्रकार के कहे हैं, पुरुषावतार, लीलावतार, गुणावतार, मन्वन्तरावतार, युगावतार और आवेशावतार।

प्रथम-पुरुषावतार तीन प्रकार के होते हैं, प्रथम पुरुष, द्वितीय पुरुष और तृतीय पुरुष के अवतार।

प्रथम पुरुषावतार हैं संकर्षण, ये श्रीकृष्ण के अंश हैं। ये कारण समुद्र में शयन करते हैं, इनके नाभिपद्म से प्रजापति सृष्टि के कर्ता ब्रह्मा की उत्पति होती है। ये प्रकृति में अन्तर्यामी रूप में विद्यमान हैं। ये प्रकृति में अधिष्ठित होकर महतत्त्व का सृजन करते हैं। राम अवतार में ये लक्ष्मण होते हैं। द्वितीयपुरुषावतार है प्रद्युम्न। राम अवतार में ये ही शत्रुघ्न हैं। ये व्यष्टिब्रह्माण्ड के अन्तर्यामीरूप में वर्त्तमान हैं। तीसरे पुरुषावतार का नाम है अनिरुद्ध। ये भरत हैं। प्रत्येक जीव के हृदय में एक बालिश्त के परिमाण में पुरुष रूप से रहते हैं।

''विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः।
एकं तु महतः स्त्रष्टु द्वितीयं तत्त्वसंस्थितम्॥
तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते।

सात्वततंत्र (लघुभागवत)

विष्णु के तीन प्रकार के रूप शास्त्र में कहे हैं। उनमें जो प्रकृति के अन्तर में निविष्ट हैं, महत्तत्त्व के सृजन करने वाले हैं वे प्रथम पुरुष संकर्षण हैं। जो समष्टि ब्रह्माण्ड के अन्तर में वर्तमान हैं, वे दूसरे पुरुष प्रधुम्न है। जो सब भूतों के भीतर विद्यमान हैं अर्थात् व्यष्टि जीवों में निविष्ट हैं, वे हैं तीसरे पुरुष जिन्हें अनिरूद्ध कहा जाता है।

दूसरे हैं लीलावतार। भगवान् केवल लीला करने के लिये समय समय में मत्स्य, कूर्म, राम, नृसिंह आदि नाना प्रकार के देह धारण कर पृथ्वी पर अवतार लेकर अनेक प्रकार की लीलायें करते हैं।

जिस चेष्टा द्वारा क्रियमाण कार्य का आयास से कोई सम्बन्ध भी नहीं होता, जो चेष्टा सब प्रकार से अपनी इच्छा के अधीन होती है, जो विचित्रतायुक्त होती है, जो नित्य नयी-नयी उल्लास की तरंगों से

तरंगित होती है उस प्रकार की चेष्टा को कहते हैं-लीला। भगवान के जिन अवतारों में ऐसी चेष्टाओं वा कार्यों की प्रधानता वा अधिकता दीखती है उन्हें लीलावतार कहते हैं।

मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, राम आदि लीलावतार हैं। तीसरे हैं गुणावतार। भगवान् सत्व, रज और तम: इन तीनों गुणों के अधिष्ठाता देवता होकर सृष्टि, पालन और प्रलय करते हैं। सत्व गुण के देवता हैं विष्णु, रज: के ब्रह्मा और तमोगुण के शिव। इस प्रकार विष्णु, ब्रह्मा और शिव गुणावतार हैं। चौथे हैं मन्वन्तरावतार। मनु चौदह हैं। इन चौदह मन्वन्तरों में भगवान् के चौदह अवतार होते हैं। इन्हें मन्वन्तरावतार कहते हैं। मन्वन्तरावतारों के नाम-स्वायंभुव मन्वन्तर में यज्ञ, स्वारोचिष में विभु, उत्तम में सत्यासन, तामस में हरि, रैवत में वैकुण्ठ, चाक्षुष में अजित, वैवस्वत में वामन, (वामन देव की गणना लीलावतारों में भी की जाती है) सवर्ण में सार्वभौम, दक्षसावर्ण में, ऋषभ, ब्रह्मसावर्ण में विष्वक्सेन, धर्मसावर्ण में धर्मसेतु, रुद्रसावर्ण में सुदामा, देवसावर्ण में योगेश्वर और इन्द्रसावर्ण में वृहद्भानु हैं।

पाँचवा युगावतार। युग चार हैं, भगवान् के अवतार भी चार हैं। छठा आवेश अवतार। भगवान् समय समय पर विशेष कार्य सम्पन्न करने के लिये किसी योग्य जीव में अपनी शक्ति को आविष्ट करके कार्य साधते हैं। कार्य समाप्त होने पर अपनी शक्ति को वापस ले लेते हैं। इस प्रकार के अवतार को आवेश अवतार कहा जाता है। परशुराम आदि आवेश अवतार हैं। लुटेरों जैसे क्षत्रियों का संहार करने के लिये भगवान् विष्णु ने परशुराम में अपनी शक्ति का आवेश किया था। जब वह कार्य समाप्त हो गया तब अपनी शक्ति को वापस ले लिया था।

'येषामन्तर्गतो विष्णु: कृत्वा विनिर्गत:।
नानावेशावतारांश्च विद्धि राजन् महामते॥

गर्गसंहिता गोलोक 2। 21

भगवान् जिनमें प्रवेश कर कार्य की समाप्ति पर पुन: बाहर आ जाते हैं उन अवतारों को आवेशावतार कहते है।

''ज्ञानशक्त्यादि कलया यत्राविष्टो जनार्दन:।
त आवेश निगद्यन्ते जीवा एव महत्तमा:॥''

लघुभागवतामृत

ज्ञान शक्ति आदि अपनी कलाओं के द्वारा भगवान् जब उच्च कोटि के जीवों में आविष्ट होकर स्थित होते हैं तब उन्हें आवेश अवतार कहते हैं।

इन ऊपर कहे अवतारों के अलावा भगवान् के असंख्य अवतार हैं।

''अवतारा ह्यसंख्येया हरे: सत्वनिधेर्द्विजा:।
यथाऽविदासिन: कुल्या: सरस: स्यु: सहस्रश:॥

भागवत् 1। 3 । 26

अक्षय जलनिधि वाले जलाशय से जैसे सहस्त्र सहस्त्र जल प्रवाह निकलते रहते हैं वैसे ही सत्वनिधि भगवान् विष्णु के असंख्य अवतार हो सकते हैं।

मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, राम, प्रभृति अवतारों की अपेक्षा श्रीकृष्ण अवतार को श्रेष्ठ कहा गया है। इस सम्बन्ध में भागवत् में कहा है-

''एते चांशकला: पुंस: कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्॥''

श्रीमद्भागवत 1। 3 । 28

ये सब अवतार पुरुषोत्तम भगवान् के कलावतार हैं, श्रीकृष्णावतार में भगवान् स्वयं अवतीर्ण हुए हैं।

कृष्णस्तु भगवान् साक्षान्नारायण एप आविष्कृतसर्वशक्तिमत्वात्।

(श्रीधर स्वामी टीका)

श्रीकृष्ण भगवान् साक्षात् नारायण हैं कारण उनमें नारायण भगवान् की समस्तशक्ति प्रकट हुई है। सर्वोत्तम श्रीकृष्ण अवतार को भी गोस्वामी शास्त्र में तीन प्रकार का कहा है, पूर्ण, पूर्णतर और पूर्णतम।

''हरि: पूर्णतम: पूर्णतर: पूर्ण इति त्रिधा।
श्रेष्ठमध्यादिभि: शब्दै र्नाटये य: परिकीर्त्तिं:॥

प्रकाशिताखिलगुणः स्मृतः पूर्णतमो बुधैः।
असर्वव्यञ्जकः पूर्णतरः पूर्णोऽल्पदर्शकः॥
कृष्णस्य पूर्णतमता व्यक्ताऽभूद् गोकुलान्तरे।
पूर्णता पूर्णतरता द्वारका मथुरादिषु॥

लघुभागवतामृत।

जिन्होंने ब्रजभूमि में गोप बालकों के साथ सख्यभाव से, नन्द यशोदा के साथ वात्सल्य भाव से और गोपिकाओं के साथ मधुर भाव से लीला की थी वे श्रीकृष्ण भगवान् पूर्णतम अवतार थे, जिन्होंने मथुरा में जाकर कंस आदि असुरों का वध किया था, कुब्जा और माली आदि अन्य भक्तों पर दया कर उनके मनोरथ पूर्ण किये थे वे पूर्णतर थे, जिन्होंने द्वारका में जाकर विविध प्रकार की लीलायें की थीं वे पूर्ण कहे जाते हैं। जिन्होंने वृन्दावन में लीला की थी वे नन्दसुत ब्रजेन्द्रनन्दन कहे जाते हैं। वे वृन्दावन को छोड़ कर कभी कहीं भी जाते नहीं। उन्होंने ही कहा है-

''वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छामि।''

वृन्दावन छोड़कर मैं एक कदम भी कहीं नहीं जाता। जिन्होंने द्वारका और मथुरा में लीला की है वे वसुदेव सुत वासुदेव हैं :

इन सब के स्वरूप भिन्न हैं। ब्रजेन्द्रनन्दन दो भुजाओं वाले हैं; मथुरानाथ और द्वारकानाथ चतुर्भुज। पूर्णतम स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने जब अवतार लिया था तब पूर्णतर, पूर्ण अंश कला आदि अवतार इन्हीं में प्रविष्ट होकर अवतीर्ण हुए थे। पूर्णतम नन्दसुत में वासुदेव आदि पूर्णतर, पूर्ण तथा अंश इत्यादि प्रविष्ट होकर अवतीर्ण हुए थे। पूर्णतम नन्दसुत ब्रजलीला को समाप्त कर अव्यक्तरूप से वृन्दावन में रह गये थे और उनमें स्थित पूर्णतर और पूर्ण अंश मथुरा और द्वारका लीला करने चले गये थे।

यशोदायां नन्दपत्न्यां मिथुनं समजायत।
गोविन्दाख्यः पुनाम् कन्या साम्बिका मथुरां गता॥

वसुदेवसुतः श्रीमान् वासुदेवोऽखिलात्मना।
लीनो नन्दसुते राजन् घने सौदामिनी यथा।
कृष्णोऽन्यो यदुसंभूतो यस्तु गोपेन्द्रनन्दनः।
वृन्दावनं परित्यज्य स क्वचिन्नैव गच्छति॥

यामल

नन्द की पत्नी यशोदा ने यमल संतान उत्पन्न की थी, गोविन्द नामक पुत्र और अम्बिका नाम की कन्या। योगमाया अम्बिका नाम की कन्या मथुरा ले जायी गयी थी। वसुदेव के पुत्र वासुदेव वृन्दावन में आकर यशोदा पुत्र गोविन्द में लीन हो गये थे जैसे विद्युत मेघों में लीन हो जाती है। जिस समय यशोदा ने यमल सन्तान प्रसव की थी उसी समय मथुरा में वासुदेव देवकी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। पश्चात् यशोदासुत और देवकी सुत एक होकर वासुदेव नन्दनन्दन के मध्य में लीन हो गये थे। यदु से उत्पन्न कृष्ण एक हैं और नन्द के सुत कृष्ण दूसरे। वे वृन्दावन को त्याग कर कहीं भी जाते नहीं।'' यह विवरण गोस्वामी श्रीजीवके गोपालचम्पू नामक ग्रन्थ में विस्तार से दिया है।

ब्रजलीला समाप्त कर श्रीकृष्ण अक्रूर के साथ जब मथुरा को चले, तब मार्ग में अक्रूर यमुना में स्नान के लिये गये थे। उसी समय यशोदा के पुत्र पूर्णतम श्रीकृष्ण यमुना के जल में तिरोहित होकर वृन्दावन में रह गये थे, उनकी देह से वासुदेव बाहर निकलकर मथुरा गये और फिर मथुरा की लीला पूर्ण करके पूर्णतर मथुरानाथ द्वारका जाते समय प्रवर्षण पर्वत पर चढ़कर वहां तिरोहित हो गये थे। पूर्ण द्वारकानाथ उनके शरीर से निकलकर द्वारका को गये।

गौड़ देश के गोस्वामी संप्रदाय ग्रंथों में श्रीकृष्णावतार की व्याख्या इस प्रकार से की हुई है। यह विवरण यामल नामक ग्रन्थ से लिया गया है। भागवत, विष्णुपुराण, हरिवंश आदि ग्रंथों में इस विषय का उल्लेख नहीं पाया जाता।

दुर्गासप्तशती के अन्तिम भाग में भगवती के अवतार लेने की कथा है वह भी तुम्हें सुनाता हूं। जब शुम्भ निशुम्भ दैत्य समस्त सेना तथा बांधवों सहित मारे गये थे तब देवताओं ने देवी की स्तुति की।

देवताओं के स्तवन से संतुष्ट होकर देवी ने भविष्यत् में अपने अवतारों का वृत्तान्त देवताओं के आगे कहा था-

''वैवस्वतेऽन्तरे प्राप्तेऽष्टाविंशतिमे युगे।
शुम्भो निशुम्भश्चैवान्यावुत्पत्स्येते महासुरौ॥
नन्दगोपगृहे जाता यशोदागर्भसम्भवा।
ततस्तौ नाशयिष्यामि विन्ध्याचलनिवासिनी॥
पुनरप्यतिरौद्रेण रूपेण पृथ्वीतले।
अवतीर्य हनिष्यामि वैप्रचित्तांस्तु दानवान्॥
भक्षयन्त्याश्च तानुग्रान् वैप्रचित्तान् महासुरान्।
रक्तादन्ता भविष्यन्ति दडिमीकुसुमोपमा ॥
ततो मां देवताः स्वर्गे मर्त्यलोके च मानवाः।
स्तुवन्तो व्याहरिष्यन्ति सततं रक्तदन्तिकाम्॥
भूयश्च शतवार्षिक्यामनावृष्टयामनम्भसि।
मुनिभिः संस्तुता भूमौ संभविष्याम्ययोनिजा॥
ततः शतेन नेत्राणां निरीक्षिष्यामि यन्मुनीन्।
कीर्तयिष्यन्ति मनुजाः शताक्षीमिति मां ततः॥
ततोऽहमखिलं लोकमात्मदेहसमुद्भवैः।
भरिष्यामी सुराः शाकैरावृष्टि प्राणधारकैः॥
शाकम्भरिति विख्यातिं तदा यास्याम्यहं भुवि।
तत्रैव च वधयिष्यामि दुर्गमाख्यं महासुरम्॥
दुर्गा देवीसि विख्यातं तन्मे नाम भविष्यति।
पुनश्चाहं यदा भीम रूपं कृत्वा हिमाचले॥
रक्षांसि भक्षयिष्यामि मुनीनां त्राणकारणात्।
तदा मां मुनयः सर्वे स्तोष्यन्त्यानम्रमूर्त्तयः॥
भीमादेवीति विख्याते तन्मे नाम भविष्यति।
यदाऽरुणाख्य स्त्रैलोक्ये महाबाधां करष्यिति॥
तदाऽहं भ्रामरं रूपं कृत्वाऽसंख्येयषट्पदम्।
त्रैलोकस्य हितार्थाय वधिष्यामि महासुरम्॥
भ्रामरीति च मां लोकास्तदा स्तोष्यन्ति सर्वत।
इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति॥
तदा तदाऽवतीर्याहं करष्यिाम्यरिसंक्षयम्।

दुर्गासप्तशती 11।41।55

देवी ने कहा-

वैवस्वत मन्वन्तर के अट्ठाईसवें युग में फिर शुम्भ निशुम्भ नामक अन्य दो असुर उत्पन्न होंगे। तब मैं नन्दगोप के घर में यशोदा के गर्भ से उत्पन्न होकर विंध्यपर्वत पर निवास करके उनका वध करूंगी। दूसरी बार फिर मैं भयंकर रूप में अवतार लेकर वैप्रचित्त नामक असुरों का संहार करूंगी। उन सब असुरों के रक्तपीने के कारण मेरे सब दाँत अनार के फूल के समान लाल रंग के हो जायेंगे। इससे देवता और मनुष्य मुझे ''रक्तदन्तिका'' कह कर स्तुति करेंगे। फिर सौ वर्ष तक अनावृष्टि होने से जब पृथ्वी जलशून्य हो जायेगी तब मुनियों द्वारा मेरी स्तुति किये जाने पर मैं अयोनिजा होकर अवतार लूंगी और अपने एक सौ नेत्रों द्वारा मुनियों को प्रसाद पूर्वक देखूँगी। अतः मनुष्य मुझे ''शताक्षी'' कह कर मेरा स्तवन करेंगे। उस समय वृष्टि न होने तक मैं अपने देह से उत्पादित शाकादि से प्राणियों का भरण पोषण करूंगी। इसलिये मैं ''शाकंभरी'' इस नाम से प्रसिद्ध हो जाऊँगी। उसके बाद मैं दुर्ग नामक असुर का वध करूंगी। इस कारण मैं दुर्गादेवी कहलाऊँगी। अनन्तर मैं हिमालय में भयानक रूप धारण करूँगी, मुनियों की रक्षा के निमित्त राक्षसों का नाश करूँगी। इसलिये मुनिजन भक्तिपूर्वक मेरी स्तुति करेंगे। तब मैं ''भीमादेवी'' इस नाम से विख्यात होऊँगी। इसके बाद अरूण नामक असुर जब त्रिलोकी के कार्य में बाधायें उत्पन्न करेगा तब मैं असंख्य भ्रमरों से परिवृत होकर भ्रामरीरूप

धारण कर उसका संहार करूंगी। तब समस्त लोक ''भ्रामरी'' कहकर मेरी स्तुति करेंगे। इस भांति जब जब असुरों द्वारा उत्पीड़न होंगे तब तब मैं आविर्भूत होकर शत्रुओं का संहार करूंगी।

गोपी यूथ

शिष्य - गोपीयूथ किसे कहते हैं ?

गुरु - भगवान् श्रीकृष्ण ने सौ गोपीयूथों के साथ रासलीला की थी। श्रीमद्भागवत में लिखा है-

''उपगीयमान उद्गायन् वनिताशतयूथपः।
मालां विभ्रद् वैजयन्तीं व्यचरन् मण्डयन् वनम्॥

भागवत् 10।29।44

एक सौ गोपीयूथों के अधिपति श्रीकृष्ण कण्ठ में वैजयन्ती माला धारण कर गोपियों के गान को सुनते सुनते स्वयं गान करते हुए वनभूमि को शोभायान करके विचरण करने लगे।

एक सौ कोटी गोपियों को लेकर एक गोपीयूथ होता है।

''अर्बुदं दश कोटीनां मुनिभिः कथितं विधे।
दशार्बुदं यत्र भवेत् सोऽपि यूथं प्रकथ्यते॥

गर्गसंहिता गोलोक खण्ड 4।10

भगवान् श्रीकृष्ण ने ब्रह्मा को कहा, हे ब्रह्मन्! मुनियों ने कहा है दश कोटी से एक अर्बुद होता है, दश अर्बुद होने पर एक यूथ होता है।

इन सब असंख्य गोपीगणों में कितनी ही गोपियां भगवान् की परिजन हैं, जो भगवान् की नित्य लीलाओं की एक प्रकार से अंग हैं। जैसे भगवान् नित्य हैं वैसे वे भी नित्य हैं। ये नित्य देह में नित्य गोलोक धाम में भगवान् की अप्रकट नित्य लीलाओं में सहायक होकर भगवान् के साथ लीला रस का आस्वादन लाभ करती हैं। जब भगवान् मनुष्य शरीर धारण कर पृथ्वी पर अवतार लेते हैं, तब ये भी मानुष देह में पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर भगवान् के साथ लीला करती हैं। ये

गोपियाँ नित्य मुक्त स्वरूप हैं, भगवान् का ही अंश है। और कुछ गोपियाँ हैं जो साधारण जीव कोटि की हैं, परन्तु अपनी मधुर भाव की साधना के द्वारा भगवान् को कान्त रूप में प्राप्त कर गोपी देह में रास लीला के रस का आस्वादन कर पायी थीं। अन्य जो श्रुतिरूपा और यज्ञसीतारूपा गोपियाँ हैं वे देवता कोटि की हैं।

भगवान् के भक्त दो प्रकार के हैं पार्षदगण और साधकगण। पार्षदगण नित्य मुक्तस्वरूप वाले और भगवान् के अंश हैं। ये ब्रह्म कोटि के हैं। यह जो नित्य गोपियों की बात कही है, वे सब ब्रह्मकोटि की हैं। ब्रज के श्रीदाम, सुदामा, वसुदाम आदि गोपाल, नन्द, यशोदा, बृषभानु, उपनन्द आदि गोपगण ये भी ब्रह्मकोटि के हैं। और भी अनेक हैं जिन्होंने श्रीकृष्ण के साथ अवतार लिया था, वे नित्य मुक्त भगवान् के नित्य पार्षद् और अंश रूप हैं। ये सब सर्वकाल में भगवान् के साथ वर्तमान रहते हैं। साधकजन माया से बंधे हुए जीव हैं। अपने साधन के द्वारा जिन साधकों ने गोपी देह पाकर प्रकट लीला में भगवान् के साथ लीला रस का संभोग किया था, वे सब साधक श्रेणी के भक्त थे।

यह जो गोपी यूथों की बात तुम्हें कही है, इनमें जो श्रुतिरूपा और यज्ञसीतारूप गोपियाँ हैं वे देवता कोटि की हैं। इनके अलावा अयोध्यावासिनी, कौशलदेसवासिनी, मिथिलावासिनी तथा पुलिन्द नारियाँ और ऋषिरूपा गोपियाँ जीव कोटि की हैं।

इन्हें छोड़कर अन्य सब गोपियाँ गोलोकवासिनी और भगवान् की नित्य साथ में रहने वाली परिकर कोटि में हैं।

भगवान् ने जब रामावतार लिया था, उस समय अयोध्या, कौशल और मिथिला में बसने वाली महिलाओं ने असभ्य, वनवासी पुलिन्दों की स्त्रियों ने, दण्डकारण्य निवासी ऋषिगणों ने भगवान के सौन्दर्य से मुग्ध होकर श्रीरामचन्द्र को पतिरूप से पाने के लिये मन ही मन इच्छायें की थी। दूसरे, श्रीरामचन्द्र ने एक सहस्र अश्वमेघ यज्ञ किये थे। उन समस्त यज्ञों में, वे एक हजार सीताजी की मूर्त्तियाँ निर्माण कर उनके साथ यज्ञ में दीक्षित हुए थे। उन सहस्र सुवर्ण निर्मित सीता

प्रकृतियों की अधिष्ठात्री दवियों ने श्रीरामचन्द्र को पतिरूप में भजने की कामना की थी। किसी समय में श्वेतद्वीप के अधिपति हरि भगवान् के रूप माधुर्य को देख कर श्रुति की अधिष्ठात्री देवियों ने उन्हें कान्त भाव से प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की थी। उस समय उनमें से किसी की भी इच्छा पूर्ण नहीं हुई थी। कृष्ण अवतार में वे सभी गोपी देह धारण कर ब्रज में अवतीर्ण हुई और भगवान् के साथ रास लीला का रसास्वादन कर उन्होंने अपने मनोरथ पूर्ण किये। इस सम्बन्ध में शास्त्र में जो लिखा है उसे सुनो-

''गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेया ऋषिजा गोपकन्यका:।
देवकन्याश्च राजेन्द्र ! न मानुष्या: कथंचन॥''

गोपियाँ चार प्रकार की हैं, श्रुतिचरी, ऋषिचरी, गोपकन्या और देवकन्या। इनमें कोई भी मनुष्य नहीं।

श्रुतिचरी गोपियों की कथा बृहद्वामनपुराण में इस प्रकार से है-

''कन्दर्पकोटीलावण्ये त्वयि दृष्टे मनांसि न:।
कामिनीभावमासाद्य स्मन्क्षुब्धा न संशय:॥
यथा त्वल्लोकवासिन्य: काम्यत्वेन गोपिका:।
भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षाऽजनि नस्तथा॥

श्रुति अधिष्ठात्री देवियों ने भगवान् को कहा- कोटि कामदेवों के लावण्यधारी आप को देखकर हमारा मन काम से क्षुब्ध हो उठा है। आपके लोक में निवास करती गोपीयां जैसे आपको पति मानकर कामभाव से भजती हैं, हमें भी वैसा ही करने की इच्छा हो रही है।

ऋषिचरी गोपियों की कथा पद्मपुराण में है-

''पुरा महर्षय सर्वे दण्डकारण्यवासिन:।
दृष्ट्वा रामं हरि तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम्॥
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्ना: समुद्भूताश्च गोकुले।
हरिं संप्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात्॥''

पूर्व काल में दण्डकारण्य में रहने वाले ऋषियों ने श्रीरामचन्द्र के दर्शन करके उनके साथ संभोग करने की इच्छा की थी। उन्होंने गोकुल में नारीरूप सें जन्मग्रहण किया था और कामभाव से हरि को पाकर संसार सागर से मुक्ति प्राप्त की थी।

स्वर्णसीता, मिथिलावासिनी, अयोध्यावासिनी और पुलिन्द स्त्रियों की कथायें गर्गसंहिता में हैं-

''श्रुतिरूपा ऋषिरूपा मैथिला: कौशलास्तथा।
अयोध्यापुरवासिन्य: यज्ञसीता: पुलिन्दका:॥

श्रुतिरूपा, ऋषिरूपा, मिथिलावासिनी, अयोध्यावासिनी और पुलिन्द नारियां गोपीगण थीं।

इसके अलावा पाताल में बसने वाली नागकन्यायें भगवान् अनंतदेव के सौन्दर्यं को देखकर नितान्त मोहित हो गयी थीं। भगवान् अनन्तदेव को पतिरूप में प्राप्त करने के लिये उन्हें तीव्र वासना हुई। उन्होंने भी ब्रज में गोपी होकर जन्म लिया और भगवान् बलदेव को पतिरूप में प्राप्त कर उनके साथ लीलारस संभोग कर वे कृतकृत्य हुई थीं।

मैंने तुम्हारे आगे भगवान् के अवतार के विषय में और विशेष कर श्रीकृष्ण अवतार के सम्बन्ध में जो कुछ भी ज्ञातव्य है वह सब वर्णन कर दिया है। अब इसके आगे तुम कुछ जानना चाहते हो ?

शिष्य - वेदों में अवतार का वर्णन है क्या?

गुरु - है। वेद कहते हैं।

''अजायमान: बहुधा विजायते।''

जन्म रहित भगवान् भी अनेक रूपों में जन्मग्रहण किया करते हैं।

शिष्य - आपने अवतार के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह सब शास्त्रों की बातें कही हैं। क्या युक्ति और तर्क से अवतार तत्व नहीं जाना जा सकता।

गुरु - युक्ति वा तर्क की सहायता से निश्चित रूप से भगवतत्त्व और विशेषकर अवतारतत्त्व नहीं जाना जा सकता। युक्ति और तर्क की सहायता से जो भगवतत्त्व को अवधारण करने गये थे, उनमें से कोई

भी सफल मनोरथ नहीं हो पाये, कोई भी निश्चित सिद्धांत तक पहुँच नहीं पाये। युक्तियों से अथवा तर्क की सहायता से भगवत्तत्व नहीं जाना जा सकता। यह देखकर ऋषियों ने आप्तवाक्य की सहायता ली। सांख्य दर्शन के रचने वाले कपिल, योगदर्शनकार पातञ्जलि आदि दार्शनिक ऋषियों ने अपने दर्शन-शास्त्रों में प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों की अपेक्षा शब्द प्रमाण को श्रेष्ठ प्रमाण कहकर निर्णय किया है। भगवान् वेदव्यास ने अपने ब्रह्मसूत्र ग्रन्थ में एक शब्द प्रमाण को ही स्वीकार किया है और अनुमान प्रमाणों द्वारा भगवत्तत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस की विवेचना ''शास्त्रयोनित्वात्'' इस सूत्र में की है :

परमेश्वर इन्द्रियों के गोचर में नहीं, वाणी और मन की भी वहां पहुंच नहीं, मनुष्य की युक्तियों और प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों का प्रयोग भी उनके विषय में असम्भव है। मनुष्य की युक्तियां, मनुष्य के प्रमाण कुछ भी भगवान् के चरण पीठों के निकट भी पहुंच नहीं पाते। अतः शब्द प्रमाण में, आप्तवाक्य अथवा शास्त्र वचनों में विश्वास नहीं करने पर किसी तरह भी भगवत्तत्व का परिज्ञान असंभव है। पृथ्वी के समस्त धर्मों ने शब्द प्रमाण को प्रधानता दी है। यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, मुसलमान धर्म, हिन्दू धर्म, यहां तक कि तर्क प्रधान बौद्ध धर्म आदि सभी धर्म आप्त वाक्यों के आधार पर स्थित हैं। आप्त वाक्यों के अतिरिक्त अन्य किसी आधार पर धर्म स्थिर नहीं हो सकता। आज कल बहुत लोग कहते हैं कि धर्म का आधार मनुष्य की विवेक शक्ति और सहज ज्ञान है। मानव का विवेक और सहज ज्ञान धर्म का आधार हो नहीं सकता क्योंकि मानव की विवेक शक्ति और उसका सहज ज्ञान उसके अपने संस्कारों के आधार पर होता है। मनुष्य के संस्कार जिस प्रकार के होते हैं, उसका विवेक तथा सहज ज्ञान भी उसी प्रकार के होते हैं। एक वैष्णव के संस्कार जिस प्रकार के होते हैं, शाक्त के संस्कार उस से विपरीत होते हैं। शाक्त की धर्म साधना में मद्य, मांसादि पंचमकार प्रधान अंग हैं, परन्तु वैष्णव के लिये उनका स्पर्श भी महापाप है। यहूदी और मुसलमान गोहत्या को धर्म मानते हैं, परन्तु हिन्दुओं के लिये गोहत्या महापाप है। अब विचार कर देखो, शाक्त का विवेक और सहज ज्ञान वैष्णव के विवेक और ज्ञान से भिन्न

है कि नहीं ? यहूदी और मुसलमानों के विवेक और सहज ज्ञान हिन्दुओं के विवेक और सहज ज्ञान तुलना में विपरीत हैं कि नहीं ? हिन्दू विधवा दूसरा पति करने को महापाप मानती है, परन्तु हिन्दुओं के अतिरिक्त अन्य जातियों की स्त्रियाँ दूसरे पतिग्रहण को निन्दनीय नहीं मानतीं। हिन्दू रमणी का विवेक और सहज ज्ञान अहिन्दू नारियों के विवेक ज्ञान से पूर्णतया विपरीत होता है। इस से यह ज्ञात होता है कि मानवों के विवेक और सहज ज्ञान जो उनके संस्कारों के अधीन होते हैं, वे परिवर्तनशील हैं। अतः वे किसी प्रकार भी धर्म की आधारशिला नहीं हो सकते। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी आदि धर्म आप्तवाक्यों पर प्रतिष्ठित हैं। विवेक अथवा स्वभाविक ज्ञान को किसी धर्म का आधार नहीं कहा जा सकता।

तुम्हें पहले कहा है कि ऋषियों के वचनों, भगवद् वाक्यों और सिद्ध महापुरुषों के वचनों में किसी प्रकार के भ्रम वा प्रमाद नहीं होते। उन लोगों के सभी कथन सत्य होते हैं। वे धर्म के समस्त तत्त्वों को प्रत्यक्ष रूप से अनुभव कर शास्त्र में लिपिबद्ध कर गये हैं। उनके वे लेख ही धर्म की आधार भित्ति हैं। उन महानुभावों के उन भ्रम-प्रमाद रहित वाक्यों को ही आप्तवचन अथवा विश्वस्त वाक्य कहते हैं। शब्द प्रमाण जिसे पहले कहा है, ये आप्तवचन ही शब्द प्रमाण कहलाते हैं। ये आप्तवाक्य, विश्वस्त वाक्य ही धर्म की आधार शिला हैं। भगवतत्त्व को दर्शाने के लिये अन्य उत्तम उपाय नहीं। भगवान् जीव पर कृपा कर अपने तत्त्व को, उनको प्राप्त करने के उपायभूत साधन-तत्व और धर्म-तत्त्व को जो कुछ जीवों के आगे प्रकाश कर गये हैं, और ऋषिजन तथा सिद्ध महापुरूष साधना के बल से ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके, उसी ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष हुए तत्वों को जो शास्त्र में लिख कर रख गये हैं, उन सब का आश्रय लेकर चलने से मनुष्य निश्चय ही भगवत्तत्व को पाने का अधिकारी हो सकता है। भगवत्तत्व से अवगत होने के लिये, भगवान् को पाने के लिये इस उपाय को छोड़ दूसरा उपाय नहीं।

''यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

गीता 16।23।

जो शास्त्रविधि को छोड़ कर स्वेच्छाचारी हो काम करता है वह सिद्धि नहीं पाता, सुख और परम गति को भी नहीं पाता।

भगवत्तत्त्व, अवतारतत्व, परलोकतत्व, आदि इन्द्रियों के ज्ञान से अतीत विषयों के निर्णय करने में शास्त्र ही हम लोगों का एक मात्र अवलम्बन है। इस विषय में और कुछ भी संदेह नहीं। भगवान् के अवतारत्तत्व का दार्शनिक रीति से निर्णय करना असम्भव है। अत: शास्त्र की सहायता बिना अवतारतत्त्व की विवेचना करने का कोई उपाय नहीं।

भक्ति

शिष्य - भक्ति किसे कहते हैं? भक्ति कितने प्रकार की होती है ?

गुरु - भज् धातु से भक्ति शब्द बना है। 'भज् सेवायाम्'- भज् धातु का प्रयोग सेवा करने के अर्थ में किया जाता है, सो समस्त इन्द्रियों द्वारा भगवान् की सेवा करना ही भक्ति है।

''सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।

हृषीकेन हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥''

सकल प्रकार से फल कामना से रहित होकर, निष्काम भाव से ज्ञान और कर्म की उपेक्षा करके सब इन्द्रियों से पूर्ण तत्परता के साथ भगवान् की सेवा करने का नाम भक्ति है।

भगवान् वेदव्यास ने भगवत् पूजा आदि में अनुराग को भक्ति कहा है।

''ईश्वरपूजादिष्वनुराग इति पाराशर्या:।''

नारदभक्ति सूत्र 16

भगवान् गर्ग ने भगवत्कथादि में अनुराग होने को भक्ति कहा है।

''ईश्वरकथादिष्विति गर्ग:।''

नारदभक्तिसूत्र 17

भगवान् शाण्डिल्य ने आत्मरति के अनुकूल विषयों से प्रीति को भक्ति कहा है। आत्मरति कहने से भगवान् के प्रति अनुराग समझा जाता है। भगवान् के प्रति प्रीति से जिन सब विषयों में विरोध नहीं, जो कार्य और अनुष्ठान भगवान् की भक्ति के अनुकूल हैं, जिन कर्मों से वा अनुष्ठान से भगवान् के प्रति अनुराग बढ़ता है, उन्हीं सब कर्मों और अनुष्ठानों के प्रति अनुराग को भक्ति कहते हैं।

''आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्य:।''

नारदभक्तिसूत्र 18

भगवान् को समस्त कर्मों को अर्पण करना और भगवान् की विस्मृति होने पर चित्त में जो व्याकुलता होती है उसी व्याकुलता को नारदजी ने भक्ति कहा है।

''नारदस्तु तदर्पिताखिलचारिता तद्विस्मरणं परमव्याकुलतेति।''

नारदभक्तिसूत्र 19

प्राचीन आचार्यों के जो सब भक्ति के लक्षण तुम्हें कहे हैं, उनका मोटा सारांश यही है कि निष्काम होकर प्रीतिपूर्वक भगवान् की सेवा करने का नाम ही भक्ति है। उस सेवा में किसी कर्म वा ज्ञान की जरूरत नहीं होती।

यह भक्ति तीन प्रकार की है-साधना भक्ति, भावभक्ति और प्रेमभक्ति।

''सा भक्ति: साधनं भाव: प्रेम चेति त्रिधोच्यते।''

भक्ति रसामृत सिन्धु

भगवान् के नाम और गुणानुवाद श्रवण कीर्तन आदि द्वारा जो भक्ति साधित की जाती है उसे साधनभक्ति कहते हैं। साधन भक्ति दो प्रकार की होती है, वैधी और रागानुगा। जिस स्थल में इष्ट देवता के प्रति वैसा प्रबल अनुराग नहीं होता, परन्तु गुरु के वाक्य में विश्वास करके या शास्त्र की आज्ञा के भय से भगवान् की भक्ति की जाती है, उसे वैधी भक्ति कहते हैं।

सुरर्षे ! विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया।
सैव भक्तिरिति प्रोक्ता तया भक्तिः परा भवेत्॥

नारदपंचरात्र

हे देवर्षि नारद ! शास्त्र में जो सब क्रियायें हरि के उद्देश्य से विधान की हुई हैं, उनके करने को वैधी भक्ति कहते हैं। इसी भक्ति का अनुष्ठान करते-करते पराभक्ति प्राप्त होती है।

गुरु के वचन में विश्वास कर शास्त्र की आज्ञा के अनुसार भगवान् के नामों का श्रवण, कीर्तन आदि साधन करते-करते भगवान् में प्रीति उत्पन्न होती है। भक्ति की इस अवस्था को रागानुगा भक्ति कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति ब्रजवासियों की जो भक्ति थी उसका नाम रागात्मिका भक्ति है। रागात्मिका भक्ति के अनुकूल और अनुरूप जो भक्ति साधक प्राप्त करता है उसका नाम है रागानुगा। जब साधक रागानुगा भक्ति पा लेता है तब इष्ट देवता के प्रति अतिप्रबल अनुराग उसके मन में उत्पन्न हो जाता है। रागानुगा भक्ति प्रबल होने पर उसे भावभक्ति कहते हैं। साधक जब भावभक्ति पाता है तब उसकी ऐसी अवस्था होती है।

क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानिशून्यता।
आशावद्धसमुत्कण्टा नामगाने सदा रुचिः॥
असक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले।
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावङ्कुरे जने॥

भक्तिरसामृतसिन्धु

जिन साधकों में भावभक्ति के अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं उनमें इस प्रकार के अनुभव होने लगते हैं यथा क्षान्ति, सर्वदा क्षमा में रुचि, अव्यर्थकालत्व, केवल भगवत्प्रसंग में ही समय बिताना, सभी विषयों में वैराग्य, मानहीनता, भगवान् के पाने के लिये प्रबल कामना, भगवान् के नाम गान में सर्वदा रुचि, भगवान् के गुणानुवाद में आसक्ति और भगवान के निवासस्थलों में प्रीति।

जब भावभक्ति में प्रगाढ़ता हो जाती है तब प्रेम उत्पन्न होता है।

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भाव स एव सान्द्रत्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

भक्तिरसामृतसिन्धु

जिसके द्वरा चित्त अतिशय निर्मल होता है, जो ममतायुक्त होता है, इस प्रकार का भाव जब प्रगाढ़ हो जाता है तब पण्डित लोग उसे प्रेम कहते हैं।

जैसा नारदपंचरात्र में कहा है:-

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसंगता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धनारदैः॥
भक्तिःप्रमोच्यते भीष्ममुखै यंत्र तु संगता।
ममतान्यममत्वेन वर्ज्जितेत्यत्रयोजना॥

दूसरे के प्रति ममता को त्याग कर भगवान में जो ममता हो, उसका नाम प्रेम है। भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव और नारद आदि भक्तजनों ने इसे ही प्रेमभक्ति कहा है। अनन्य ममता को भीष्म आदि भागवत प्रेमभक्ति कहकर उल्लेख कर गये हैं।

''ॐ सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा'' नारदभक्ति सूत्र 2

''ॐ सा परानुरक्तिरीश्वरे'' शाण्डिल्य सूत्र 2

भगवान् नारद और शाण्डिल्य ने अपने भक्ति सूत्र ग्रन्थ में प्रेमभक्ति का वर्णन इस प्रकार से किया है।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है-

''ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥''

जो ब्रह्म को पाकर प्रसन्न अन्तरात्मा हो जाता है वह किसी के लिये न शोक करता है न कुछ कामना करता है। समस्त जीवों में उसकी समदृष्टि हो जाती है, ऐसे ही साधक मेरी पराभक्ति को प्राप्त करते हैं।

प्रेमभक्ति जब प्रगाढ़ हो जाती है, तब प्रेम, स्नेह आदि नामों से पुकारी जाती है। भक्तिरसामृतसिन्धु और उज्ज्वलनीलमणि नामक श्रीमद् रूपगोस्वामीजी के दो ग्रन्थों में इसका वृतान्त विस्तार के साथ लिखा है। भक्ति लाभ की रीति भक्तिरसामृतसिन्धु में इस प्रकार से कही है-

''आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
आसक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाऽभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्नः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः॥

पहले श्रद्धा, श्रद्धा का अर्थ गुरु और शास्त्र वाक्यों में विश्वास। तदनन्तर साधुजनों की संगति, अनन्तर भजन, उससे अनर्थों की अर्थात् विघ्नों की निवृत्ति होती है। तत् पश्चात् निष्ठा और रूचि उत्पन्न होती है। उसके बाद में भगवान् में आसक्ति और तब प्रेमभाव का उदय होता है। साधकों को एक के बाद एक ये सब अवस्थायें प्राप्त होती हैं।

भगवान् की पराभक्ति पाकर साधक कृत कृत्य हो जाता है। देवर्षि नारद ने अपने भक्ति सूत्र में भक्ति की महिमा इस प्रकार वर्णन की है-

''यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति''

सूत्र 4

''यत्प्राप्य न किञ्चिद् वाच्छति, न शोचति, न द्वेष्टि, न रमते, नोत्साही भवति। सूत्र 5

''यज् ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति।

सूत्र 6

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवता, सनाथा चयं भूर्भवति सूत्र 19

भक्ति लाभ करने पर साधक सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है, तृप्त हो जाता है। उसकी कोई कामना नहीं रहती। किसी विषय में उसको उत्साह अर्थात महत्वाकांक्षा नहीं रहती। वह मत्त हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है, आत्माराम हो जाता है। उसके पितर नितान्त आनन्द पाते हैं, देवता नृत्य करते हैं। पृथ्वी उसे पाकर धन्य हो जाती है।

सद्गुरु के पास दीक्षा ग्रहण कर उसके उपदेशानुसार साधना करने पर साधक पहिले माया से मुक्त होकर ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करता है। तत् पश्चात् उसको योग की अवस्था प्राप्त होती है। इस अवस्था में वह जीवात्मा में परमात्मा को देख पाता है। तदनन्तर भगवान् की पराभक्ति प्राप्त होने की अवस्था होती है। इस पराभक्ति को प्राप्त करने पर साधक के समक्ष भगवान् का लीलातत्व प्रकट होता है। तब साधक भगवान् की अनन्त लीलाओं का दर्शन कर पूर्णकाम हो जाता है। तब उसको प्राप्त करने के लिये कुछ शेष नहीं रहता। इस लीला-दर्शन की स्थिति को ही पञ्चम पुरुषार्थ कहते हैं। इस स्थिति को पाने के लिये सद्गुरु की कृपा अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं।

तांत्रिक साधना और पञ्च मकार

शिष्य-तंत्रों में पञ्च मकार की व्यवस्था क्यों की गयी है ?

गुरु- जो निवृत्तिपथ पर चलने में असमर्थ हैं, उन निम्न कोटि के अधिकारियों के हेतु ही तंत्र की रचना की गयी है। हमारे शास्त्रकारों ने धर्म की प्राप्ति के लिये दो प्रकार के मार्गों का निर्देश किया है-निवृत्ति मार्ग और तांत्रिक मार्ग। निवृति मार्ग को वैदिक मार्ग और प्रवृति मार्ग को तांत्रिक मार्ग कहते हैं। जो उच्च कोटि के अधिकारी होते हैं, शास्त्र के विधिनिषेधों को पालन कर आहार-विहार में सब प्रकार से संयमपूर्वक चलने में समर्थ होते हैं, वे निवृत्ति मार्ग के अधिकारी होते हैं। लेकिन पृथ्वी पर सभी लोग उच्च अधिकार लेकर जन्मे नहीं, खासकर आज के कलिकाल में। युग के माहात्म्य के कारण मनुष्य की शक्ति सभी विषयों में अति अल्प है। अतः मनुष्यों में अधिकांश ही शास्त्र विधि को पालन करने में, आहारादि सब विषयों में संयम कर निवृति मार्ग में चलने में असमर्थ हैं। जो निवृत्ति मार्ग में प्रगति करने में समर्थ नहीं हैं, उन निकृष्ट अधिकारियों के लिये परमदयालु जगद्गुरु भगवान महादेव ने तन्त्रों में पञ्चमकारों के उपयोग की व्यवस्था कर दी है। हमारे प्राचीन स्मृतिकार भी मनुष्य प्रकृति के अनुसार भिन्न भिन्न धर्मों की व्यवस्था कर गये हैं। शास्त्र में वर्णधर्म, आश्रमधर्म, मोक्षधर्म, राजधर्म, आपद्धर्म, स्त्रीधर्म, आदि नाना प्रकार के धर्मों का वर्णन है।

अधिकार, प्रकृति और अवस्था के अनुसार उन सब धर्मों का विधान किया गया है।

हमारे देश में भगवती श्यामा की पूजा तथा अन्य पूजायें जो प्रचलित हैं, वे तीन प्रकार की हैं- तामसिक पूजा, राजसिक पूजा और सात्विक पूजा। तामसिक पूजा और राजसिक पूजा में पशुबलि आदि हिंसा कार्य किया जाता है और तामसिक पूजा में ही मद्य का व्यवहार भी किया जाता हैं परन्तु सात्विक पूजा में ऐसा कोई काम नहीं होता। पशुबलि और मद्य का व्यहार सात्विक पूजा में वर्जित है। राजसिक और तामसिक पूजा में देवी को मांस से भोग दिया जाता है। सात्विक पूजा में मांस का स्पर्श भी नहीं होता। यह तामसिक, राजसिक और सात्विक पूजायें भी अधिकारों की श्रेष्ठता और निकृष्टता के भेद से प्रचलित हैं।

पृथ्वी पर सब मनुष्यों की प्रकृति एक समान नहीं। इस प्रकार भिन्न प्रकृतियों को लेकर मनुष्य पृथ्वी पर जन्मते हैं। किसी की प्रकृति सत्व प्रधान, किसी की रज: प्रधान और किसी की तम: प्रधान होती है। मनुष्य की प्रकृतिगत सत्व, रज: तम: इन तीनों गुणों की कमी बेशी के कारण भिन्न-भिन्न धर्मों की व्यवस्था की गयी है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चारों वर्ण भी गुणों के अनुसार सृष्ट हैं।

''चातुर्वण्य मया सृष्ट गुणकर्मविभागश:।'' गीता 4।14

सत्वगुण होने पर ब्राह्मण, रजोगुण होने पर क्षत्रिय, तमोगुण के साथ रजोगुण होने पर वैश्य और केवल तमोगुण होने पर शूद्र इस प्रकार जाति रचना की गयी है। इसलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-इन चारों वर्णों की प्रकृति और अधिकार भिन्न भिन्न हैं। चारों वर्णों की प्रकृति और अधिकार भिन्न होने से उन लोगों के धर्म, आहार वृति आदि सभी भिन्न-भिन्न हो गये हैं। प्रकृति और अधिकार भेद से भिन्न-भिन्न जातियों के लिये शास्त्र में पृथक्-पृथक् धर्मों की जो व्यवस्थाये की गयी हैं, उन उन जातियों के उपयुक्त हैं। शूद्र जाति के लिये जिस धर्म का निर्देश किया गया है उन के लिये वही उचित है। अन्य वर्णों का धर्म उनके लिये परधर्म हो जाता है। इस प्रकार से शास्त्र में जिस

जाति के लिये जो धर्म कथित है वही धर्म उस जाति का स्वधर्म है और उससे भिन्न परधर्म। ब्राह्मण के लिये जो धर्म शास्त्र में निर्दिष्ट किया गया है वह ब्राह्मण का क्षत्रिय के लिये जो विहित है वह क्षत्रिय का और वैश्य के लिये जो कथित है वह वैश्य के लिये उपयोगी है। शास्त्र में शूद्र जाति के लिये जिस धर्म की व्यवस्था की गयी है, शूद्रजन उसका पालन सहज में कर पाते हैं। दूसरे वर्ण के धर्म का पालन उनके लिये कष्टकर होता है। केवल कष्टकर ही नहीं, एक प्रकार से असम्भव है। अत: शूद्रों के लिये स्वधर्म पालन करना ही स्वाभाविक और कल्याणकारी है। उस रीति से अपना धर्म पालन करने पर शुद्रों को वैश्य जाति के धर्म का अधिकार होगा, क्योंकि मनुष्य धीरे धीरे ही उच्चकाटि के धर्म का अधिकार पाता है। प्रथम तमोगुणी धर्म को शास्त्र की व्यस्थानुसार निभाना होगा। तमोगुणी धर्म को नियमपूर्वक आचरण करने पर रजोगुणी धर्म के लिये अधिकार उत्पन्न होगा। उसके अनन्तर रजोगुणी धर्म का आचरण किये जाने पर सत्वगुणी धर्म के लिये अधिकार होगा। इस प्रकार शूद्र जाति को वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण जाति के धर्मों का अधिकार होता है।

एक के बाद दूसरा ग्रन्थ पढ़ने से जैसे विद्या प्राप्त करनी होती है उसी तरह से एक के बाद दूसरा उच्चक्रम का धर्म पालन करने से धर्माचरण का प्रकृत फल लाभ किया जा सकता है। विश्रृंखलता से और अनियम से धर्मानुष्ठान करने से फल की प्राप्ति नहीं होती। मनुष्य अपना धर्म का आचरण नहीं करने पर अन्य सहस्त्र चेष्टाओं से भी मोक्ष की प्राप्ति में समर्थ नहीं होता। इसलिये भगवान् ने गीता में कहा है-

''स्वधर्मेनिधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:।'' 3।35

स्वधर्म में अर्थात् जिस वर्ण के लिये जो धर्म शास्त्र में विहित है उस धर्म का आचरण करते हुए यदि किसी मनुष्य की मृत्यु भी हो जाये तो उसके लिये वह मङ्गलकारक है। परधर्म अर्थात् दूसरे वर्ण का धर्माचरण धर्म करने से मङ्गल तो क्या, अमङ्गल होगा।

तंत्रशास्त्र में धर्म के कार्यों में मद्य मांसादि के उपयोग की व्यवस्था जो महादेव ने की है, वह भी मनुष्यों के प्रकृति भेद के

कारण से है, उच्च नीच अधिकारों के कारण से है। जो श्रद्धालु मनुष्य निवृत्ति मार्ग में चलने में असमर्थ है, निवृत्ति मार्ग के शास्त्र विहित विधि- निषेधों को पालन करते हुए संयम पूर्वक धर्मानुष्ठान नहीं कर पाते, उन्हीं निम्न कोटि के अधिकारियों के लिये प्रवृत्तिमार्ग का उपदेश किया गया है। जिनकी जिह्वा संयम में नहीं रहती है, जो मद्य-मांस खाने की लालसा को रोक नहीं पाते, संयम पूर्वक स्त्री सहवास करने में जो असमर्थ हैं, उन्हीं सबके लिये भगवान् विरूपाक्ष ने तंत्रशास्त्र के कथित मद्य-माँसादि के व्यवहार की व्यवस्था की है। जिन लोगों को धार्मिक उन्नति करने के लिये सच्ची आकांक्षा है, वासना के जाल से, कर्मों के बन्धनों से मुक्ति पाने की इच्छा है, परन्तु काम, क्रोध लोभ आदि प्रवृत्तियों की प्रबलता के कारण निवृत्ति मार्ग के विधिनिषेधों को पालन करने में समर्थ नहीं, मद्य-मांस को और अवैध रीति से स्त्री संग को भी छोड़ नहीं सकते, वे लोग क्या धार्मिक उन्नति करेंगे ही नहीं ?

यदि संसार में ऐसे मनुष्यों के लिये इसी प्रकार की व्यवस्था (केवल निवृत्ति परक) होती तो यह बड़े अन्याय और अविवेक का कार्य होता। परन्तु ऐसी व्यवस्था नहीं है। भगवान् ने ऐसा प्रबन्ध किया है जिससे सब भाँति के मनुष्य धार्मिक उन्नति कर सकें। निम्न कोटि के अधिकारी मनुष्य अपनी लालसा के पदार्थों का उपभोग करें और साथ ही साथ धार्मिक उन्नति भी कर पायें इस हेतु से तंत्रशास्त्र का निर्माण हुआ है। विधिपूर्वक भोग के बिना भोगवासना की निवृत्ति होती ही नहीं। इसीलिये महादेव ने विधिपूर्वक मद्य-मांसादि का उपभोग करते हुए साथ-साथ धर्म साधन करने की व्यवस्था की है। जो लोग महादेव द्वारा प्रचारित तंत्रशास्त्र की विधि से मद्य-मांसादि का व्यवहार और नियम पूर्वक साधना करते हैं उनकी वासनायें नष्ट हो जाती हैं। वे लोग पूर्णरूप से धार्मिक उन्नति करने में सफल होते हैं। तंत्रशास्त्र की रीति से, साधना करके जब कोई साधक उच्च अवस्था में पहुँच जाता है, तब फिर उसे मद्य-मांसादि किसी पदार्थ के लिये तनिक भी लालसा नहीं रहती। तब वह मद्य-मांसादि सब तामसिक पदार्थों का परित्याग कर अत्यन्त शुद्धाचरणवाला हो जाता है। तब उसका आवरण वैष्णवों जैसा हो जाता है। तंत्रशास्त्री इसी अवस्था को दिव्यभाव कहते हैं।

अधिकार भेद से साधना की भिन्नता वेद में भी है। वेद के कर्मकाण्ड में जो यज्ञों में पशुवध, सोमरस पान आदि के विधान हैं, वे भी अधिकारों की उच्च-नीचता के कारण विहित हैं।

आजकल के शिक्षित व्यक्ति शास्त्र के इस अभिप्राय को न जान कर तांत्रिक साधना को बहुत ही निन्दनीय मानते हैं। वास्तव में यह नीच और निन्दनीय व्यापार नहीं। इसका अभिप्राय बहुत ऊँचा और महत्वपूर्ण है। दुरुपयोग तो सभी वस्तुओं का होता रहता है। इस कारण से तांत्रिक साधना पर दोष लगाना, अथवा उस मार्ग की निन्दा करना अत्यन्त अन्याय है। धन के द्वारा इस संसार में कौन सा बुरा काम नहीं किया जाता है ? ऐसा होते हुए भी क्या किसी ने धन का परित्याग किया है ? ऐसा करना उचित है क्या ? जिस धन के द्वारा अनेक दुष्कर्म साधित होते हैं, उसी के द्वारा संसार में अनेक प्रकार के पुण्य कार्यों को सम्पन्न कर ढेर के ढेर पुण्य भी इकट्ठे किये जाते हैं।

एक बात और है। आज कल के सुशिक्षित व्यक्ति अधिकार भेद की बात समझते नहीं, मानते नहीं। उनका विचार है कि भगवान् ने सब लोगों के लिये एक प्रकार के धर्म की व्यवस्था की है। परन्तु ये लोग यदि तनिक भी चित्त को स्थिर कर विचार कर के देखें तो उन्हें स्पष्ट दीखने लगेगा कि उनका यह मत बिल्कुल गलत है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के समान नहीं, दोनों के अनेक विषयों में बहुत भेद हैं। इस तरह से समस्त मनुष्य जातियों में घोर विषमताएँ पायी जाती हैं। अत: विषमताओं से भरे समस्त मनुष्य समाज के लिए एक धर्म तो किसी तरह भी नहीं हो सकता। सब रोगों के लिए क्या एक क्विनाईन की व्यवस्था की जा सकती है? केवल हिन्दू धर्म ने ही इस तत्व को समझा है। इसीलिये हिन्दुओं के शास्त्रों में अधिकार भेद से पृथक्-पृथक् धर्मों का उपदेश दिया गया है। अन्य धर्मों में अधिकार भेद की बात ही नहीं, अत: सभी के लिये एक प्रकार के उपदेश दिये गये हैं।

विधिपूर्वक किये गये भोगों द्वारा मनुष्य में भोग-वासनायें निवृत्त करके क्रम से उसे निवृत्ति मार्ग में लाना ही तांत्रिक साधना मार्ग का उद्देश्य है। विहित रीति से मद्य-मांसादि का उपयोग कर धीरे-धीरे उनसे निवृत्त करना ही महादेव का अभिप्राय है। यह सब तंत्रशास्त्र के

अध्ययन से स्पष्ट जाना जा सकता है। पहिले से ही एक भाव को मन में रख कर शास्त्र को पढ़ने से शास्त्र का असली मतलब समझा नहीं जाता। शास्त्र को समझने के लिये उसका शिष्य बनना होता है। पहिले ही एक प्रकार के संस्कार को लेकर समालोचक की भांति मस्तक को उन्नत कर शास्त्र को पढ़ने पर कोई भी शास्त्र को समझ नहीं पाता। शिष्य की भांति विनीत भाव से शास्त्र का अध्ययन करो, तब शास्त्र के यथार्थ तात्पर्य को समझ सकोगे। तब सब शास्त्रों के महत्व, उनके उच्च भाव और पवित्र अभिप्राय को देखकर मुग्ध हो जाओगे।

आहार के साथ धर्म सम्बन्ध

शिष्य - आहार के साथ धर्म का कोई सम्बन्ध है क्या ? दूसरे का जूठा खाने से धर्म की कुछ हानि होती है क्या?

गुरु - आहार के साथ धर्म का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ है। धर्म साधना के लिये शरीर प्रधान उपाय है। इसीलिये ऋषियों ने कहा है- ''शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्''-शरीर धर्म साधन के लिये पहिला उपाय है। शरीर स्वस्थ और निरोग हो तब धर्म की साधना होती है। शरीर अस्वस्थ वा रोगी हो जाने पर धर्म साधना में पूरा विघ्न आ पड़ता है। विद्याध्ययन, कृषि, वाणिज्य आदि जितने भी मेहनत के काम हैं, उनमें धर्म की साधना सबसे अधिक श्रमसाध्य है। कठोर परिश्रम के साथ साधना के बिना धार्मिक उन्नति नहीं की जा सकती। प्राचीन समय के विश्वामित्र, वाल्मीकी आदि ऋषियों और आजकल के बुद्ध आदि महापुरुषों के धार्मिक साधना के वृत्तान्तों को पढ़कर हैरान होना पड़ता है। शरीर स्वस्थ, निरोग एवं बलवान् नहीं होने पर मनुष्य कठिन परिश्रम नहीं कर पाता। अत: धर्म की साधना करने की इच्छा हो तो सब प्रकार के प्रयत्नों से शरीर को स्वस्थ रखना होगा। शरीर का स्वस्थ और निरोग होना पूर्णरूप से आहार पर निर्भर करता है। उपयोगी आहार के बिना धर्मसाधना होती नहीं। भगवान् ने गीता में कहा है-

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नत:।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दु:खहा॥

अत्यधिक भोजन करने वाला अथवा निराहार रहने वाला, अधिक सोने वाला अथवा बिल्कुल जागरण करने वाला कोई भी योग नहीं कर पाता। जो व्यक्ति उपयुक्त आहार विहार करता है, नियमानुसार साधना करता है, उचित मात्रा में नींद लेता है और जागरण करता है उसी की योग साधना सफल होती है।

अनेक खाद्य पदार्थ ऐसे हैं, जो पुष्टि कारक, लघुपाक और उत्तेजन रहित भी हैं। इसी प्रकार के खाद्य पदार्थ धर्मसाधक के लिये उचित हैं। जो वस्तुएँ पुष्टिकारक, लघुपाक होकर उत्तेजक भी हों, वे साधक के लिये कभी भी ग्राह्य नहीं क्योंकि शरीर में उत्तेजना वर्तमान होने पर मन स्थिर नहीं होगा। मन के स्थिर न होने पर कुछ भी धार्मिक साधना सम्पन्न नहीं होती।

हमारे शरीर में सत्व, रज:, तम - ये तीन गुण हैं। शरीर में तम: और रजो: गुण की अधिकता होने पर धर्म की साधना में बड़ा विघ्न होता है। जब तक सत्वगुण की प्रबलता नहीं होती उद्वेग रहित होकर धर्म साधना नहीं की जा सकती। अत: साधक को जिस तरीके से सत्वगुण प्रबल हो, उस पर विशेष ध्यान रखना जरूरी है। ऐसे अनेक खाद्य हैं जिनके खाने पर तमोगुण बहुत प्रबल हो जाता है। शरीर में तमोगुण की अधिकता होने पर मन अत्यन्त चंचल और विक्षिप्त होता है। मन में भक्ति, श्रद्धा, विश्वास, निष्ठा आदि पवित्र भाव म्लान हो जाते हैं। काम, क्रोध, आलस्य, निद्रा, सन्देह, अविश्वास आदि प्रबल हो जाते हैं। मन की ऐसी अवस्था में किसी तरह भी साधना नहीं की जा सकती। अत: तमोगुण जिससे प्रबल न हो सके, सब तरह से ऐसा यत्न करना चाहिए। अत: तमोगुण को दूर रखने के लिये तामसिक आहार का वर्जन करना जरूरी है। मद्य-मांस तमोगुणी आहार है। इनको खाने से तमोगुण खूब प्रबल हो जाता है। इसलिये मोक्ष की इच्छा रखने वालों को मद्य-मांस का सर्वथा त्याग करना होता है। शास्त्रकारों ने धर्म की साधना करने वालों के लिये मद्य-मांस का सेवन बिल्कुल निषिद्ध किया है और यह बात उन्होंने एक बार नहीं, बारम्बार

कही है। सिर्फ मद्य-मांस ही नहीं, प्याज, लहसुन, फूलगोभी, शलगम आदि विलायती साग सब्जी, मसूर की दाल का खाना भी उचित नहीं। ये सब पदार्थ उत्तेजक और तमोगुण की वृद्धि करने वाले हैं। इन पदार्थों को खाने से शरीर और मन उत्तेजित तथा तमोगुण बढ़ने से चंचल और विक्षिप्त होता है। इस से साधना में बहुत क्षति होती है। अत: साधक को तमोगुणी आहार का सब रीति से परित्याग करना चाहिए। जो लोग रीति अनुसार साधना करते हैं, वे अच्छी तरह समझते हैं कि आहार के साथ धर्म का कैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो शास्त्र विहित रीति के अनुसार नहीं चलते, शास्त्रों से बाहर अपनी कल्पना से बनाई प्रणाली वा पद्धति से चलते हैं वे लोग इसे समझ नहीं सकते क्योंकि उनकी अपने मन से बनाई प्रणाली उनके मन में किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं लाने पाती। शास्त्रोक्त प्रणाली को अनुसरण कर साधक जिस प्रकार की उच्च स्थिति को प्राप्त करते हैं, अपने मन की करने वाले वैसी स्थिति को किसी तरह भी नहीं पहुँचते। अत: आहार द्वारा साधना में जो अनेक क्षति होती है उसे वे लोग किञ्चित् भी समझ नहीं पाते।

दूसरे का उच्छिष्ट खाने से भी धर्मसाधना में सफलता नहीं मिलती। दूसरे की उच्छिष्ट खाने से उसके अन्तर के सभी भाव उच्छिष्ट खाने वाले में संक्रमित हो जाते हैं। इस प्रकार जूठे भोजन के साथ एक मनुष्य के काम, क्रोध, लोभ, अविश्वास, संशय आदि निकृष्ट भाव दूसरे मनुष्य के अन्तर में प्रविष्ट हो जाते हैं। इससे धर्म साधना में बहुत नुकसान होता है। दूसरे का उच्छिष्ट खाने पर उसे यदि कोई रोग हो तो वह जूठा खाने वाले के शरीर में जाकर उसके शरीर को रोगी बना देता है। इससे भी साधना में विकट विघ्न होता है।

जो शिशु धात्रियों द्वारा लालित पालित होते हैं, उनके स्तन का दूध पीते हैं, उनके साथ खान-पान करते हैं, उन शिशुओं के स्वभाव नीच और घृणित हो जाते हैं। जो शिशु सदा नौकरों के पास रहते हैं, उन्हीं के साथ खाते-पीते हैं उन शिशुओं के स्वभाव माता-पिता के स्वभावों के समान न होकर उन नौकरों के तुल्य होते हैं। इससे उन

बालकों का बड़ा अनिष्ट होता है। बाघनी द्वारा पाले हुए मनुष्य के बच्चे का बाघ जैसा स्वभाव होने की कथायें पुस्तकों में पढ़ने में आती हैं। एक स्थान में रहने और स्तन पान की अपेक्षा भी उच्छिष्ट खाने से एक मनुष्य के विचार और रोग दूसरे मनुष्य में अधिकार परिमाण में प्रवेश करते हैं। अत: जिसे धर्म में उन्नति करनी हो, उसे तो दूसरों का उच्छिष्ट विष के समान समझकर कभी लेना नहीं चाहिये।

एक ओर जैसे दूसरे का उच्छिष्ट खाना वर्जनीय है, वैसे ही देवता, माता-पिता, साधु और भगवद्भक्तों के प्रसाद का ग्रहण करना उचित है। देवता आदि के प्रसाद ग्रहण करने से देवताओं का देवभाव, साधुजनों की साधुता और भगवद्भक्तों की भक्ति प्रसाद खाने वाले में संक्रमित होकर उसके देवभाव, साधुभाव और भक्ति को अधिक बढ़ाती है। इसीलिये शास्त्र में जूठे पदार्थ के खाने का निषेध और प्रसाद खाने की व्यवस्था की गयी है।

साधकों को धार्मिक उन्नति करने में जितने प्रकार के विघ्न हैं, उनमें मद्य-मांस और उच्छिष्ट भोजन मुख्य हैं। अत: साधक मद्य-मांस तथा उच्छिष्ट का कभी सेवन नहीं करे। वैसा करने पर वह किसी तरह भी धार्मिक उन्नति नहीं कर पायेगा।

''आहारशुद्धौ सत्वशुद्धि।'' छान्दोग्य उपनिषद 7।26।2

आहार की शुद्धि होने पर चित्त की शुद्धि होती है। चित्त की शुद्धि नहीं होने से मुक्ति किसी प्रकार भी नहीं होगी।

* * *

श्री श्रीविजयकृष्ण गोस्वामीजी से सम्बन्धित
हिन्दी ग्रन्थ एवं प्राप्ति स्थान

क्रं. सं.	ग्रन्थ का नाम	लेखक
1.	**श्री श्रीसद्गुरु संग**	- लेखक कुलदानन्द ब्रह्मचारी
	प्राप्ति स्थान :- सेवायत, ठाकुरबाड़ी, पुरी	
2.	**अजपा साधन तत्व**	- स्वामी असीमानन्द सरस्वती
3.	**कुछेक दिनों के संस्मरण**	- स्वामी असीमानन्द सरस्वती
4.	**गुरु-शिष्य संवाद**	- जगद्बंधु मैत्र
	प्राप्ति स्थान : श्री श्रीविजयकृष्ण आश्रम, रामचन्द्रपुर, जिला पुरुलिया पिन : 723144	
5.	**साधना पथ**	- स्वामी अमलानन्द सरस्वती
6.	**श्री श्रीविजयकृष्ण कथामृत**	- स्वामी अमलानन्द सरस्वती
7.	**सद्गुरु स्वामी असीमानन्द लीला प्रसंग**	- स्वामी अमलानन्द सरस्वती
8.	**श्री श्रीविजयकृष्ण परिजन**	
	प्राप्ति स्थान :- श्री श्रीविजयकृष्ण भक्त संघ, स्टेशन रोड़, रघुनाथपुर, (पुरुलिया) - 723133, मो. : 09932607101, 09332409501	
9.	**श्री श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी** (संक्षिप्त जीवनी एवं उपदेश)	- डॉ. रत्ना मुखोपाध्याय
10.	**श्री श्रीकिरणचन्द्र दरवेश जी** (संक्षिप्त जीवनी एवं उपदेश)	- डॉ. रत्ना मुखोपाध्याय
11.	**स्वामी श्रीअसीमानन्द सरस्वती** (संक्षिप्त जीवनी एवं उपदेश)	- डॉ. रत्ना मुखोपाध्याय
	प्राप्ति स्थान :- श्री ए.के. मुखर्जी, 3/747, शान्ति नगर, रायपुर (छ.ग.) पिन : 492-001	
12.	**माँ-मणि** (जीवन दर्शन एवं दिव्य लीला-अनुभूतियाँ)	
13.	**महापातकी के जीवन में सद्गुरु लीला** (लेखक हरिदास बसु)	
	प्राप्ति स्थान : श्री रामअवतार शर्मा, ए-22, भान नगर, क्वींस रोड़, जयपुर-302021 मोबाइल : 09314522108, 0141-2353971	
13.	**श्री श्रीअद्वैताचार्य प्रभु**	- श्री ब्रजेश्वरानंद
	प्राप्ति स्थान : पार्थ पाठक 42, लेक ईस्ट 6 रोड़, कोलकाता - 700075	